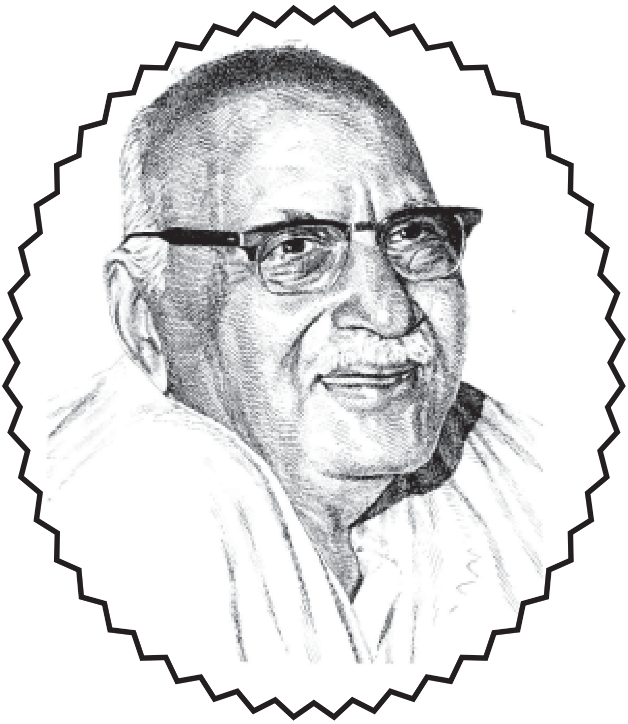
दो आध्यात्मिक महाविभूतियोंके प्रेरक प्रसंग



गीतावाटिका प्रकाशन,
गोरखपुर

दो शब्द

हम जब जीवनमें किसीके सम्पर्कमें आते हैं और यह सम्बन्ध निकटताका बन जाता है अथवा कुछ काल बना रहता है तो कुछ घटनाएँ यदा-कदा ऐसी भी हो जाती हैं कि वे हमारे चित्तपर एक छाप छोड़ देती हैं। उनकी स्मृति बनी रहती है। यह प्रभाव अच्छा-बुरा दोनों हो सकता है, किन्तु सत्पुरुषोंके सम्पर्कमें आनेपर जो प्रभाव पड़ता है वह तो सदा मंगलमय ही होता है।

इस प्रकार सत्पुरुषोंके सम्पर्कमें आनेपर उनके जीवनकी जिन बातोंको हम अपनी स्मृतिमें समेट लेते हैं वे संस्मरण हमारे ही नहीं, सभीके लिये प्रेरणाप्रद होते हैं। अतः संत-सत्पुरुषोंके संस्मरण प्रकाशनकी 'श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवासंघ' की योजना सबके लिये, पूरे समाजके लिये मंगलकारी है। इन संस्मरण-पुस्तिकाओंसे लोग प्रेरणा ग्रहण करें तो उनके जीवनमें उत्तम गुण आवेंगे।

श्रीभाईजीके साथ रहते हुए उनके साथ मेरे चित्तकी एकता हो गयी थी। इसे आप इस बातसे समझ सकते हैं कि एक बार सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) सभामें श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) की प्रशंसा कर रहे थे। उससे श्रीभाईजीको बड़ा संकोच हो रहा था। मुझे बुरा लग रहा था कि सेठजी प्रशंसा करके क्यों भाईजीको संकोचमें डाल रहे हैं।

श्रीसेठजीसे मेरा स्नेह सम्मान्य आत्मीय जैसा ही था। एक बार वृन्दावनमें श्रीजीके बगीचेमें सेठजी अपने प्रवचनमें रासलीलाकी आलोचना करने लगे। मुझे लगा कि वृन्दावनके लोग सेठजीकी बातसे चिढ़कर इन्हें भला-बुरा न करने लगें, इनका अपमान न हो, अतः मैंने सेठजीको बीचमें ही रोककर बोलना प्रारम्भ कर दिया और लगभग एक घण्टे तक व्याख्यान

देता रहा। पीछे सेठजीने प्रशंसा की—'इन्होंने मुझे रोककर अच्छा किया। मैं प्रसंगवश न जाने क्या-क्या कह जाता और उससे यहाँके लोगोंको दु:ख होता।'

श्रीभाईजीका शरीर पूरा हो गया, यह बात मनने अब भी स्वीकार नहीं की है। मेरे लिये वे स्मरण रूप नहीं, अनुभव रूप ही लगते हैं। मुझे कुछ कहना या करना होता है तो मनमें आता है—यह बात श्रीभाईजी सुनेंगे, कोई उनसे जाकर कहेगा तो उन्हें कैसा लगेगा?

जिनके साथ एक होकर रहनेका अभ्यास हो गया था उनका संस्मरण लिखने-लिखानेमें अपना मन भर आता है, यह काम बनता नहीं।

मकर संक्रान्ति, वि० सं० २०३३ **—अखण्डानन्द सरस्वती**

नम्र निवेदन

गीताप्रेसके कर्णधार परम श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एवं परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रेरक प्रसंग अनन्त हैं। उनके जीवनका प्रत्येक क्षण प्रेरणासे भरा था—शिक्षासे ओत-प्रोत था।

जहाँ एक तरफ श्रीसेठजी आचार्यकोटिके संत थे, वहाँ दूसरी तरफ पूज्य श्रीभाईजी रस-सिद्ध संत—मधुर भावोंके प्रदाता थे।

श्रीसेठजीका शास्त्रीय ज्ञान एवं जीवन कितना पवित्र था इसका ज्ञान इसी बातसे लगाया जा सकता है कि एक बार एक विषयपर मतान्तर होनेपर पूज्य श्रीकरपात्रीजी महाराज एवं पूज्य पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीयने इन्हें अपना निर्णायक स्वीकार किया था।

श्रीभाईजी उन तत्त्वदर्शी संतोंकी परम्परामें थे जिनके लिये भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर ज्ञानोत्तर पराभक्तिके द्वारा मेरे समग्ररूपको तत्त्वसे जानता है (गीता ७/३)।' श्रीभाईजीमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका विलक्षण समावेश था। उन्होंने मानवजीवनके आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों पक्षोंका सन्तुलन बनाये रखा। इसीलिये जो भी उनके सम्पर्कमें आये वे उन्हें अपना आत्मीय समझने लगे और उनके सम्पर्कके संस्मरण उनके जीवनकी निधि बन गये।

इन दोनों विभूतियोंके संस्मरण लौकिक और पारमार्थिक मार्ग दर्शनमें सहायता मिले इस उद्देश्यसे इस पुस्तकका प्रथम संस्करण दिनांक २४-१-७७ को श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवासंघ, मथुरासे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद यह पुस्तक अप्राप्य रही और बराबर माँग बनी रही। एक प्रेमी सज्जनकी प्रेरणासे इस पुस्तकका पुनः प्रकाशन हो रहा है। आशा एवं विश्वास है कि प्रस्तुत संस्मरण पाठकोंके लिये प्रेरणाश्रोत होगा।

—प्रकाशक

विषय सूची

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका

श्रीसेठजीकी सादी वेशभूषा

काशीमें अध्ययन करते समय एक संस्थाके द्वारा सम्मानित सज्जनोंकी सूचीमें सेठ श्रीजयदयाल गोयन्दकाका नाम देखा था। उन्हें 'भक्तराज' की उपाधिसे विभूषित किया गया था। मनमें प्रश्न उठा—ये सद्गृहस्थ कौन हैं? कल्पनायें आयीं। शरीरका वर्ण गौर, वस्त्र पीले, ललाटपर तिलक, सामान्य रूपसे जैसे भक्तलोग रहते हैं। हरिभक्तपारायण संगीतमर्मज्ञ श्रीविष्णुदिगम्बरजीके द्वारा आयोजित 'गीताज्ञान-यज्ञ' प्रयागमें जानेपर सेठजीको देखनेका अवसर मिला। अपने मनकी कल्पनायें व्यर्थ गयीं। रंग साँवला, शरीपर श्वेत बगलबन्दी, साधारण धोती, मारवाड़ी पगड़ी, कानमें मुरकी, एक सेठ मंचपर बैठे हुए थे। हाँ, यही गोयन्दकाजी थे। सर्वथा साधारण, देखनेमें सेठ, सरलताकी मूर्ति, वेशभूषा सरल, चाल-ढाल सीधी-सादी; आश्चर्य हुआ। उस साधारणमें एक महान् निवास था। मेरा अनुमान है कि उन्होंने 'भक्तराज' की उपाधि कभी स्वीकार नहीं की।

संध्या-वन्दन अखण्ड

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहीं सत्सङ्ग-प्रवचन करते थे तो संध्योपासनका समय अवश्य बचा लेते थे। एक दिन उन्होंने बताया कि 'जबसे मैंने यज्ञोपवीत ग्रहण किया है, तबसे अबतक (लगभग पचास वर्षमें) कभी संध्योपासनमें अन्तर नहीं पड़ा। यथाशक्ति कालातिक्रमण भी नहीं किया,

कर्मातिक्रमणकी तो बात ही क्या है। जल न मिलनेपर बालूसे अर्ध्य दिया। ट्रेनमें होनेपर समय-समयपर मानसिक करके बाद क्रियारूपसे भी कर लिया। संध्यावन्दन एक नित्यकर्म है। इसके न करनेपर प्रत्यवाय लगता है। द्विजातिका यह अवश्य-कर्त्तव्य धर्म है। सूतक-पातकमें भी निर्जल और बिना मालाके संध्या होती है।'

अपने धर्मका यह अपूर्व निर्वाह उनकी दृढ़ निष्ठाका ही सूचक है।

गृहस्थकी उदारता

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका गीतापर 'तत्त्वविवेचनी' नामक टीका लिख

रहे थे। कुछ महीनोंके लिये मैं उनके निवास-स्थान बाँकुड़ा (पश्चिम बंगाल) में ही रह रहा था। वहाँसे आनेके समय श्रीसेठजी और उनके विद्वान् भ्राता श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने मुझसे कहा—'पण्डितजी! आपके घरमें लड़कीका विवाह होनेवाला है। आप हमारी इस बर्तनकी दूकानमें घुस जाइये और आपको जितना चाहिये उतना बर्तन छाँटकर अलग कर दीजिये। हम आपके साथ भेज देंगे।' उनकी यह उदारता देखकर मेरा हृदय भर आया। बर्तन मैंने सौ, दो सौ रुपयोंकी कीमतके ही लिये, परन्तु उनसे जो उन्मुक्त हृदय-उदारताकी शिक्षा ली, वह अबतक कभी-कभी याद आ जाती है। किसीको कुछ देना हो तो मुट्ठी बाँधकर नहीं दिया जाता।

दुःख मिटानेकी युक्ति

जिन दिनों 'गीता-तत्त्वविवेचनी' टीका लिखी जा रही थी, श्रीभाईजी, स्वामी श्रीरामसुखदासजी, बाबाजी चक्रधरजी सब वहीं रह रहे थे। मैं भी था। श्रीमोहनलालजीका एक

नन्हा-सा बच्चा शरीर छोड़ गया। मोहनलालजी सेठजीके छोटे भाई तो थे ही, दत्तक पुत्र भी थे। बच्चेको लेकर हमलोग श्मशान गये। लौटनेपर देखा कि सेठजी अत्यन्त व्याकुल हैं। सब लोग उनकी सेवा-शुश्रुषामें लग गये। समझाने लगे—'आप इतने दुःखी हो जायँगे तो लोग क्या कहेंगे? आप इतने विचारवान्, भगवद्भक्त, सत्पुरुष हैं। लोग कहेंगे कि जब इनका दुःख नहीं मिटा तो भगवान्‌के मार्गपर चलनेसे हमारा दुःख क्या मिटेगा।' सेठजीने कहा—'यदि घर-बाहरका कोई भी प्राणी मेरे सामने दुःखी होकर आयेगा तो मैं फिर दुःखी हो जाऊँगा। इसलिये तुमलोग यह प्रतिज्ञा करो कि कोई दुखी नहीं होगा तो मैं व्याकुल नहीं रहूँगा।' ऐसा ही किया गया और सब ठीक-ठीक हो गया।

मैंने दूसरे दिन एकान्तमें सेठजीसे पूछा—'क्या सचमुच आपको इतना दुःख हुआ?' सेठजीने कहा—'मैंने सोच-विचारकर दुःखी होनेका अभिनय किया था। यदि मैं व्याकुल न होता तो घरके सब लोग रोते-पीटते और मैं समझाते-समझाते थक जाता। जब मैं दुःखी हो गया तो सब लोग समझदार हो गये और मुझे समझाने लगे। अकेले मेरे दुखी होनेसे सबका दुःख मिट गया।'

लोगोंका दुःख मिटानेकी भी कला होती है जो किसी-किसी सत्पुरुषको आती है।

पवित्रताका ध्यान

परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी खान-पानकी पवित्रता एवं निष्ठा प्रसिद्ध है। वे खान-पानमें वस्तुकी पवित्रता एवं जिनके माध्यमसे वह वस्तु प्राप्त होती है, उन व्यक्तियों एवं पात्रोंकी शुद्धिपर बड़ा ध्यान रखते थे। अपनी इस निष्ठाके निर्वाहके लिये वे चाहे जहाँका जल एवं भोजन

स्वीकार नहीं करते थे, चाहे वह भगवत्प्रसाद ही क्यों न हो। कई बार ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते थे, जहाँ प्रसादकी मर्यादा तथा आपसी व्यवहारका निर्वाह करना पड़ता था, वहाँ वे अपनी व्यवहार-कुशलतासे प्रसादकी मर्यादा निर्वाह करते हुए—बिना किसीका चित्त दुखाये अपनी आचार-निष्ठाको अक्षुण्ण रखते थे।

सन् १९३८ के लगभग गीताप्रेसकी ओरसे एक तीर्थ यात्रा स्पेशल ट्रेन निकली थी। उस यात्रामें लगभग तीन महीनेतक सेठजीके सम्पर्कमें रहना हुआ और उनके व्यवहार-पाटव एवं खान-पानकी पवित्रताकी निष्ठाके कई उदाहरण देखनेको मिले। हमलोग भावनगरका राजमहल देखनेके लिये गये। यहाँ राजा तो थे नहीं, परन्तु स्वागत सत्कारका प्रबन्ध था। कार्यकर्त्ताओंने सेठजीसे आग्रह किया कुछ खाने-पीनेके लिये। सेठजी उत्तर देते थे—'मैं अभी भोजन करके आया हूँ, भूख नहीं है।' अन्ततः वे लोग जल पीनेके अनुरोधपर अड़ गये। सेठजीका उत्तर वही था—'भूख नहीं है।' हमलोग वहाँसे लौटे तो अवसर मिलनेपर मैंने सेठजीसे पूछा—'वे लोग कहते थे जल पीनेको और आप मना करते थे खानेको।' इसका क्या अर्थ है? सेठजीने बताया—'प्यास लगी थी, वहाँका पानी पीना नहीं था तो मैं यह कैसे कह देता कि प्यास नहीं है।' वे सामान्यतः कहीं ऐसा-वैसा जल नहीं पिया करते थे। वे अपने वाक्कौशलसे बिना वहाँके लोगोंका चित्त दुखाये बच आये।

न्याय-निष्ठा

तोताद्रिमें यात्रियोंने वहाँके अभिषेक-तैलकी महिमा सुनकर टीन-पर-टीन भरकर ट्रेनमें रख लिये। वहाँ तेलकी कोई कीमत नहीं ली जाती। ज्ञात होनेपर सेठजीने सबको डाँटा और 'यह प्रसादकी मर्यादाके विपरीत है, अन्याय है, बेईमानी है' कहकर

सबसे कीमत वसूल की जो कि सैकड़ों रुपयोंमें हुई और मन्दिरमें जमा करवायी। उनकी न्याय-निष्ठा आदर्श थी। मार्गमें रेलवे कर्मचारियोंको पुरस्कार तो दिलवाते थे परन्तु घूस देनेको मना करते थे।

दृढ़ निष्ठा

अर्द्धकुम्भीके अवसरपर श्रीकरपात्रीजी महाराज भी आये हुए थे। उस समय उनकी चढ़ती जवानी, पाण्डित्यका असाधारण उत्कर्ष, त्याग-वैराग्यकी उज्ज्वल आभा चारों ओर फैल रही थी। राजनीतिक स्पर्श नहीं था। सेठजीके साथ वेदान्त चर्चामें उनका मतभेद हो गया। वह मतभेद था—तत्त्वज्ञके आचरणके सम्बन्धमें। सेठजीका कहना था—'तत्त्वज्ञ महात्मा उसको मानना चाहिये जिसका आचरण लोगोंके लिये आदर्श एवं अनुकरणीय हो।' वे इस सम्बन्धमें इतने दृढ़निश्चय और कट्टर थे कि किसीके पांडित्य अथवा प्रतिष्ठाके सम्मुख झुकते नहीं थे। उनकी दृढ़ निष्ठा थी कि जो सच्चा ज्ञानी है, उससे शास्त्र-विरुद्ध आचरण हो ही नहीं सकता।

ईमानदारी

हरिद्वारमें कुम्भके मेलेके कारण बड़ी भीड़ थी। सेठजीका सत्संग कर्णवासमें हुआ। मैं हरिद्वारमें पर्वस्नान करके कर्णवास आ गया। मुझे स्मरण है कि सेठजीने 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' गीताके इस श्लोकपर ऐसा गम्भीर प्रवचन किया कि गंगातटके पुराने वेदान्ती भी मुग्ध हो गये। इस श्लोकमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार, अविद्या-निवृत्ति, ज्ञाननिष्ठा—सभीका संकेत है। उन्हीं दिनों कुम्भ-मेलेकी गीताप्रेसकी पुस्तकोंकी दुकान जल गयी थी, बादमें बीमासे प्राप्त अधिक द्रव्य-राशिको सेठजीने कम्पनीको लौटा दिया था। उन्हें न्याय और ईमानदारीसे

अतिशय प्रीति थी।

पूजा व्यक्तिकी नहीं, ईश्वरकी

सेठजी व्यक्ति-पूजाके विरोधी थे। उनका कहना था कि किसी साधु-महात्माको अपनी पूजा नहीं करवानी चाहिये। फोटो खिंचवाना, उच्छिष्ट प्रसाद देना, स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलना, अपनी प्रशंसा करवाना—वे किसी महात्माके लिये उचित नहीं समझते थे। वे इस सम्बन्धमें इतने दृढ़ थे कि बड़े-से-बड़े लोगोंके प्रति भी आलोचना करनेसे चूकते नहीं थे। मेरी जानकारीमें कई बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओंसे मिल-जुलकर एकान्तमें एवं जन-समाजमें भी उन्होंने निःसंकोच कह दिया था कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिये। इस चर्चाको लेकर कभी-कभी विवादके प्रसंग भी उपस्थित हो गये। परन्तु वे अपने सिद्धान्तपर अडिग रहे। हमारे एक आदरणीय महात्माकी मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठित की जा रही थी, तब स्वयं उन्होंने मुझसे कहा कि—'आप इस काममें क्यों सहयोग दे रहे हैं?'

सत्संगका शौक

गीता-भवन (स्वर्गाश्रम) के सत्संग हालमें बैठा हुआ था। सेठ श्रीजयदयालजी चहलकदमी कर रहे थे। वे मस्तीमें आकर बोले—'स्वामीजी! बड़े लोगोंको कोई-न-कोई शौक हुआ करता है। वे शौक-मौजके लिए बहुत धन खर्च करते हैं। मेरा भी एक शौक है—सत्संग। मैं इसीका मजा लेता हूँ। अन्यथा मैं इन सब कामोंमें क्यों पड़ता? इसमें कुछ-न-कुछ खर्च भी करता रहता हूँ। सत्संग ही मेरी रुचिका प्रिय विषय है।'

मध्यस्थता

उन दिनों पं०श्रीमदनमोहन मालवीय हरिजनोंके लिये मन्त्रदीक्षा देनेका सविशेष प्रचार कर रहे थे, सभा, पुस्तकें, व्याख्यान, लेख आदिके द्वारा। श्रीकरपात्रीजी महाराजने उनका विरोध किया। दोनोंमें शास्त्रार्थका दिन निश्चय हुआ। ऋषिकेशमें शास्त्रार्थ हुआ। उसमें दो मध्यस्थ चुने गये—श्रीजयदयाल गोयन्दका एवं श्रीगौरीशंकर गोयन्दका। कई दिन तक दोनों उपस्थित रहे। गौरीशंकरजीने करपात्रीजी महाराजके पक्षमें अपना निर्णय दे दिया। परन्तु सेठजीने कुछ इस प्रकारका निर्णय दिया—'देश एवं समाजकी परिस्थितिके अनुसार प्रौढ़ युक्तियोंके द्वारा मालवीयजीने अपना पक्ष सिद्धकर दिया है। शास्त्रप्रमाणकी दृष्टिसे करपात्रीजी महाराजका पक्ष ठीक है।' इस गोलमाल निर्णयसे करपात्रीजी कुछ रुष्ट हो गये। उन्होंने कई निबन्ध लिखे, परन्तु वे किसी कारणवश 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किये गये। इसपर करपात्रीजीने 'कल्याण' को लेख देना बन्द कर दिया। परन्तु बादमें सेठजीने अपनी व्यवहार-कुशलतासे करपात्रीजीको प्रसन्न कर लिया। करपात्रीजी स्वयं ही एक बार कह रहे थे कि 'गीताप्रेसवालोंने अर्थात् श्रीसेठजी और भाईजीने गोरक्षाके आन्दोलनमें इतना सहयोग दिया है कि मेरा मन प्रसन्न हो गया और मतभेद रहनेपर भी मैंने विरोध करना छोड़ दिया।'

कट्टर सनातनधर्मी होनेपर भी सेठजी सामाजिक परिस्थिति, राष्ट्रीय-हित, मानवोचित सहृदयता एवं राष्ट्रीय नेताओं तथा महात्माओंके आदरभावसे
कभी असावधान नहीं हुए।

पूर्वजन्मकी स्मृति

सेठ जयदयालजी गोयन्दकाके सम्बन्धमें विशेष विशेष

सत्संगी ऐसी चर्चा करते थे कि 'सेठजी पूर्वजन्ममें ऐसे थे। अमुक पुरुष उनकी पूर्वजन्मकी पत्नी हैं, अमुक व्यक्तिका उद्धार करनेके लिये ही स्वेच्छासे जन्म ग्रहण किया है इत्यादि।' जब मेरे मनमें श्रद्धाका भाव होता, तब इन बातोंपर विश्वास होता, जब कभी अश्रद्धाका भाव होता तब ऐसी कल्पना उठती कि लोगोंने झूठ-मूठ भ्रम फैला रखा है।

समय लेकर मैं एकान्तमें सेठजीसे मिला। मैंने पूछा—'आपके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें आपके नामसे ये-ये बातें कही जाती हैं। क्या आपने ऐसा कभी कहा है?' सेठजीने कहा—'मैंने अबसे बीस-तीस वर्ष पूर्व कुछ ऐसी बातें कही थीं।' मैंने पूछा—'आपको पूर्व जन्मका स्मरण है?' उन्होंने 'हाँ' में उत्तर दिया।

वे बोले—'चाहें तो आप भी अपने पूर्व जन्मकी बातें जान सकते हैं।' मैंने पूछा—'सो कैसे?' वे—'अपरिग्रहस्थैर्य जन्म-कथन्तासम्बोधः' इस योगसूत्रके अनुसार संयम कीजिये। आपको बाल्यावस्थाकी जहाँ तक स्मृति है, उसको छोड़ दीजिये। उसके पूर्व क्या? इसपर विचार कीजिये। जन्मके दिन क्या? गर्भमें क्या? पिताके वीर्यमें क्या? उसके पहले क्या? आप एकाग्र मनसे पूर्व जन्मका अनुभव करने लगेंगे। वासनारहित प्रज्ञामें सत्यका आविर्भाव होता है।

उन्होंने आगे कहा—'मैंने कभी ऐसी धारणा की थी तब मुझे पूर्वजन्मकी स्फुरणा हुई थी।'

मैंने कभी पूर्वजन्मके सम्बन्धमें कोई ध्यान-धारणाकी नहीं। हमें पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने कहा था—'तुम अपने विवेक-विचारको पुनर्जन्मके निषेधमें लगाओ और जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त हो जाओ। पुनर्जन्म सिद्ध करनेमें जिज्ञासुको क्या लाभ है?'

सेठजीने भी पिछले दिनों जन्म-जन्मान्तरकी चर्चापर बल

देना कम कर दिया था और सगुण-निर्गुण परमात्माके ध्यानपर ही अधिक बल देते थे।

सद्‌गुरु श्रीमंगलनाथजी

सेठ श्रीजयदयालजी गुरुडमके प्रबल विरोधी थे। वे स्वयं जिसको मन्त्र अथवा ध्यान बताते उसको अपना शिष्य नहीं, मित्र कहते थे। वे स्त्री-दीक्षाके विरोधी थे। स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलना, उच्छिष्ठ देना साधुओंके लिये वर्जित मानते थे। वृन्दावनमें इस बातको लेकर बड़ा कोलाहल मचा। बाबा हितदासजी और सेठजी—दोनोंने ही दोनों पक्षके प्रमाण धर्मशास्त्र-ग्रन्थोंसे प्रस्तुत किये। परन्तु यह सब घटना तो बादकी है। इसके बहुत पहले मैंने सेठजीसे एकान्तमें पूछा—'सेठजी! आपके कोई गुरु हैं कि नहीं?' उन्होंने बताया—'मैं स्वामी श्रीमंगलनाथजी महाराजको गुरु मानता हूँ। पहले तो उनपर सोलह आने श्रद्धा थी, बादमें साढ़े पन्द्रह आने रह गयी।' वे बोले—'जबतक वे असंगत, निवृत्तपरायण, विरक्तजीवन थे, तब तक पूरी श्रद्धा थी। जब गोशालाके मुकदमेमें पड़ गये तो दो पैसे कम हो गयी।' मैंने पूछा—'क्या उनका ज्ञान, आचरण सब ठीक था?' सेठजीने कहा—'सब ठीक था।'

मैंने पूछा—'उनका सिद्धान्त और आपका सिद्धान्त एक ही है?' उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ, निर्गुण-विषयक उनका और हमारा सिद्धान्त एक है। हम ऐसा मानते हैं कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये अद्वैत वेदान्त सर्वथा आवश्यक है। ब्रह्मज्ञानके बिना कैवल्यमोक्ष नहीं है। ज्ञान ही स्वतन्त्र साधन है, ज्ञान ही साक्षात् साधन है। परन्तु सगुण-साकार भगवान्‌के दर्शनके लिये भक्ति होती है, इस सम्बन्धमें श्रीमंगलनाथजी महाराजसे मेरा कोई मतभेद नहीं।'

श्रीमंगलनाथजी महाराज औपनिषद तत्त्वज्ञानकी परम्परामें

एक श्रेष्ठ ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुष हुए हैं। उनकी प्रत्येक रहनीसे ब्रह्मवेत्ताका परिपूर्ण स्वातन्त्र्य अभिव्यक्त होता है।

मोक्षका साक्षात् साधन—तत्त्वज्ञान

सेठजीको कई अपने लोग 'आपजी' भी कहते थे। मेरा एक मित्र उन्हें 'प्राप्त पुरुष' कहता था। असलमें यह आप्त अर्थात् यथार्थ वक्ता शब्दका ही प्रकृष्ट रूप है। उनका कहना था कि इन्हें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी है, इसलिये इन्हें 'प्राप्त' बोला जाता है। एकबार सेठजीसे मेरी इस प्रकार बातचीत हुई—

'वस्तुकी उपलब्धि प्रमाणसे होती है, कर्मसे नहीं। जैसे, आँखसे रूप देखा जाता है। कर्मसे वस्तुका निर्माण होता है जैसे हाथसे घड़ा गढ़ा जाता है। मोक्ष आत्माका स्वतःसिद्ध स्वरूप है। नित्य प्राप्त होनेपर भी अज्ञानसे अप्राप्त-सा प्रतीत हो रहा है। मोक्षका निर्माण नहीं करना है, उसको केवल जानना है। तब कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? कर्मका फल तो नाशवान् होता है। मोक्ष कर्मफल है नहीं, अन्यथा नाशवान् हो जायगा। आप अपना अभिप्राय स्पष्ट कीजिये।'

सेठजीने मेरे पूर्वोक्त प्रश्नके उत्तरमें कहा—'पण्डितजी! मैं कर्म या उपासनासे मोक्ष नहीं मानता। कर्म और उपासनासे ईश्वर प्रसन्न होता है और प्रसन्न होकर जिज्ञासुको ज्ञान देता है। कर्मोपासना ईश्वर-प्रसादके साधन हैं। हम कर्म-उपासनाको साधन कहते हैं, साक्षात् साधन नहीं। मोक्षका साक्षात् साधन तो ज्ञान ही है, वह चाहे अधिकारी पुरुष श्रवणादिके द्वारा प्राप्त करे अथवा ईश्वर अनुकम्पा करके बुद्धियोगके रूपमें दे, 'ददामि बुद्धियोगम्' अथवा 'ज्ञानदीपेन भास्वता'। ज्ञानसे ही मोक्ष होता है—इस सिद्धान्तको मैं पूर्णतः मानता हूँ। साधक दो प्रकारके

होते हैं—त्वं पदार्थ प्रधान साधक शमादि सम्पन्न होकर ज्ञान प्राप्त करता है और तत् पदार्थ प्रधान साधक कर्त्तव्य-पालन, उपासना आदिके द्वारा ईश्वरको प्रसन्न करके उसकी कृपाके द्वारा। मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान अनिवार्य है और वह मुझे मान्य है।

लेखक—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

****

सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी आचार-निष्ठा

जब श्रीभाईजीने अपनी अस्वथ्यताके अन्तिम दिनोंमें 'इन्सुलिन' का प्रयोग करके अपने जीवनकी रक्षा करना स्वीकार नहीं किया उस समय उन्होंने श्रीसेठजीकी औषधि सम्बन्धी आचार-निष्ठाको बताते हुए डाक्टर साहबसे कहा था—'हमारे परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी, जो इस गीताप्रेसके मूल संस्थापक थे, आचार-निष्ठा तो और भी कठोर थी। उन्होंने जीवनभर आयुर्वैदिक औषधियोंको छोड़कर अन्य किसी चिकित्सा-पद्धति(पैथी) की दवाइयोंका सेवन नहीं किया। आयुर्वैदिक औषधियोंमें भी वे केवल उन्हीं औषधियोंको लेते थे, जिनमें कोई अशुद्ध वस्तु सम्मिलित नहीं होती। जान्तव पदार्थोंसे बनी औषधियोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। लगभग २० वर्ष पूर्व वे सत्संगके लिये गोरखपुर पधारे थे। एक दिन अचानक उनके उदरमें भीषण शूल उत्पन्न हुआ। स्थानीय वैद्यराजोंके निर्देशनमें कई तरहके उपचार हुए; पर शूलमें कमी नहीं हुई, वह बराबर बढ़ता ही गया। सभी स्वजन चिन्तित हो गये। श्रद्धेय श्रीसेठजी ऐलोपैथिक दवा छूतेतक नहीं थे, पर कुछ स्वजन स्थानीय

सिविल सर्जन महोदय कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसादजीको रोग-निदान करनेके लिये बुला लाये। कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसाद बड़े ही निपुण डाक्टर थे। उन्होंने काफी देरतक देखा। शूलकी बढ़ती हुई भीषणतासे वे चिन्तित हो गये। उन्होंने गम्भीरताके साथ स्वजनोंको समझाया कि 'इन्हें ऐलोपैथिक दवा इन्जेक्शन देना चाहिये, अन्यथा जीवन खतरेमें है।' स्वजनोंने श्रीसेठजीकी आचार-निष्ठा बताते हुए ऐलोपैथिक दवा करनेमें सर्वथा लाचारी व्यक्त की, पर सिविल सर्जन महोदय स्थितिकी गम्भीरतासे पूर्ण परिचित थे। वे नहीं चाहते थे कि आचार-निष्ठाके नामपर इतने बड़े संतका जीवन खतरेमें रहे। वे श्रद्धेय श्रीसेठजीके पास पहुँचे और गम्भीर स्वरमें बोले—'महाराज! आप बड़े ही बुद्धिमान् हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम कोई भी अशुद्ध चीज आपको नहीं देंगे। आप हमारी ऐलोपैथिक दवा ले लीजिये। पीड़ा बड़ी तीव्र है और बराबर बढ़ रही है। उचित दवा न होनेसे कुछ भी हो सकता है।' श्रद्धेय श्रीसेठजीने डाक्टर महोदयकी हितभरी सलाह सुनी और वे सहज भावसे डाक्टर साहबसे बोले—'ऐलोपैथिक दवा न लेनेसे मृत्युसे बढ़कर और तो कुछ नहीं होगा? वहाँ तक हम निश्चय किये बैठे हैं। इससे अधिक कुछ और हो तो डाक्टर साहब कहिये।' डाक्टर साहब इस दृढ़ताको देखकर चकित रह गये। भगवान्ने व्यवस्था की। दर्द एक-दो दिनमें ठीक हो गया।'

अहिंसाका उपदेश तो सभी करते हैं, पर समयपर उसका पालन विरला ही कर पाता है। परम श्रद्धेय श्रीसेठजी एवं श्रीभाईजीकी यह आचार-निष्ठा जगत्को पवित्र करती रहेगी।

श्रीकृष्णचन्द्र अग्रवाल

****

हरिजन बस्तीमें आग

पूज्य श्रीसेठजी (ब्रह्मलीन स्वनामधन्य श्रीजयदयालजी गोयन्दका) की पूर्वज-भूमि और जन्मभूमि चूरू है। चूरू राजस्थानका एक बड़ा नगर है जो पहले बीकानेर राज्यका एक अंग था। श्रीसेठजी जैसे ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ संतको पाकर चुरूके नगरवासियोंका गौरवान्वित होना स्वाभाविक है। श्रीसेठजीका कारोबार तो बंगालके बाँकुड़ा नगरमें था, पर सेठजी सत्संगके निमित्त भारतके विभिन्न स्थानोंपर वर्षभर भ्रमण करते ही रहते थे जिससे साधकोंको प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन हो सके और वे अपने जीवनके लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकें। इसी भ्रमण-क्रममें पूज्य सेठजी प्रत्येक वर्ष चूरू अवश्य जाते तथा पर्याप्त समय तक वहाँ वास करते। पूज्य श्रीसेठजी भारतमें कहीं भी रहते, किन्तु चूरूसे उनका सदैव सम्पर्क बना रहता।

एक बारकी बात है। चुरूके हरिजनोंकी बस्तीमें आग लग गयी। हरिजनोंके सारे झोंपड़े जलकर भस्म हो गये। अपने बाल-बच्चोंको किसी आश्रयमें रखना भी हरिजनोंके लिये एक विकट प्रश्न बन गया। हरिजनोंकी इस विपन्नावस्थाकी जानकारी श्रीसेठजीको मिली। सेठजीका नवनीत-सा हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने तुरंत नये झोंपडोंके बनवानेकी व्यवस्था कर दी। नवीन झोपड़ियोंके बन जानेसे हरिजन पुनः सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

ऐसा कहा जाता है कि जब दुःखके आनेका क्रम आरम्भ होता है तो उसकी शृंखला नहीं टूटती। हरिजनोंके दुर्भाग्यकी बात क्या कही जाय? श्रीसेठजीने जिन नवीन झोपड़ियोंको बनवाया था, उनमें फिर आग लग गयी। वे हरिजन पुनः आश्रय-विहीन हो गये, परन्तु श्रीसेठजीकी उदारताकी सीमा नहीं। ज्यों ही श्रीसेठजीको यह ज्ञात हुआ कि आग लग

जानेसे वे हरिजन पुनः घर बार रहित हो गये हैं, सेठजीने उन हरिजनोंके लिये फिरसे झोपड़ियाँ बनवा दी। हरिजनोंका हृदय तो अत्यधिक कृतज्ञतासे भर गया।

पर हाय रे अभाग्यकी शृंखला। उन झोपड़ियोंमें पुनः आग लगी और पुनः वे हरिजन आश्रय-विहीन हो गये। अब किस मुँहसे श्रीसेठजीके समक्ष हरिजनोंके इस दुःख-दर्दको सुनाया जाय। हरिजन भले न कहें पर सेठजी तक उनके दुःखकी गाथा पहुँच ही गयी। श्रीसेठजीने कहा कि उन हरिजनोंके लिये फिरसे नवीन झोपड़ियाँ बनवा देनी चाहिये। ऐसा कहते ही किसी स्वजनने कहा कि भगवान्‌को यह स्वीकार नहीं है कि ये हरिजन किसी आवासके आश्रयमें रहें, इसीलिये तो उनके लिये बनी झोपड़ियोंमें बार-बार आग लग जाती है। अतः हरिजनोंके लिये नवीन झोपड़ियोंको नहीं बनवाना चाहिये।

इसपर कर्त्तव्य-परायण श्रीसेठजीने विनम्र उत्तर दिया—'भगवान् क्या चाहते हैं और क्या करते हैं इसे देखना हमारा, हमलोगोंका काम नहीं है। हमारा कार्य है कि अपनी दृष्टि अपने लक्ष्य पर रखें तथा जो संकटग्रस्त हैं, उनकी यथाशक्ति सहायता करें, सोत्साह सहायता करें। यह तो भगवान् हमें सेवाका अवसर दे रहे हैं, ऐसा मानना चाहिये।'

वे स्वजन आगे कुछ बोल न सके। अपने निश्चयानुसार श्रीसेठजीने उन हरिजनोंके लिये पुनः झोपड़ियाँ बनवा दीं। फिर उनके आवासोंमें आग नहीं लगी। इसी कर्त्तव्यपरायणता, परदुःखकातरता, स्वधर्म-निष्ठा, सहयोग-तत्परताके कारण चुरूके लोग पूज्य श्रीसेठजीको सदा याद करें तथा सेठजी जैसे संतको पाकर गर्व करें तो क्या आश्चर्य?

श्रीभगवानदास सिंहानिया

****

आदर्श व्यवसायी एवं सेवाभावी

श्रीसेठजी राजस्थानान्तर्गत चूरूके निवासी थे। व्यवसायके लिये श्रीसेठजी बाँकुड़ा (प० बंगाल) गये। वे मुख्यतः सूत, किरासिन तेल, कपड़ा, बर्तन, चीनी, रंग आदिका काम करते थे। व्यवसायके सिलसिलेमें पुरलिया, चक्रधरपुर, सीतामढ़ी आदि स्थानोंपर जाना पड़ा। श्रीसेठजीने जहाँ भी व्यवसाय किया, वहाँ वे 'एक-भाव सही-भाव' तथा 'एक-तौल, सही-तौल', की नीतिको पकड़े रहे। सत्यका आग्रह जीवनमें था ही। इससे व्यापारियोंमें और ग्राहकोंमें श्रीसेठजीकी साख बहुत बढ़ गयी। वे हमेशा सत्य और नेक कमायीको महत्व देते। जिस तरह शुद्ध पैसेका महत्व था, उसी प्रकार निःस्वार्थ सेवाका महत्व था। आर्त, असहाय, दीन, दुःखी विधवा, ब्राह्मण, गाय आदिकी सेवामें वे सदैव सोत्साह लगे रहते। सेवा स्वयं तो करते ही, दूसरोंको भी करनेकी प्रेरणा दिया करते।

गीता प्रचारकी प्रेरणा

गीता प्रचारकी प्रेरणाके पीछे पूज्य श्रीसेठजीके जीवनके दो प्रसंग हैं। पहला प्रसंग यह है कि गीताका स्वाध्याय करते-करते गीताके अठारहवें अध्यायके ६८ वें और ६९ वें श्लोकोंपर उनकी दृष्टि ठहर गयी—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य

करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं।'

इन दो श्लोकोंने श्रीसेठजीके मनपर ऐसा प्रभाव डाला कि उनका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीमद्भगवद्गीताके लिये अर्पित हो गया।

दूसरा प्रसंग इस प्रकार है कि गीताके प्रकाशमें साधनाके सोपानोंको पार करते-करते जब श्रीसेठजीको भगवान् श्रीविष्णुके दर्शन हुए, तब भगवान्ने यह आदेश दिया—'मेरी वाणी गीताका प्रचार करो।' गीताप्रचारका कार्य भगवान्का कार्य है, इस कार्यके लिये भगवदीय आदेश है। अतः श्रीसेठजीने अपना तन-मन-धन, यहाँ तक कि अपना सम्पूर्ण जीवन गीता-प्रचारके लिये लगा दिया।

श्रीसेठजीका अहिंसाव्रत

चर्मरहित जूतोंकी दूकान खोलनेके पीछे श्रीसेठजीके जीवनका एक प्रसंग है। एक सभामें श्रीसेठजीने सुना कि जूतोंमें हिंसा द्वारा प्राप्त गायके चमड़ेका और गायके बछड़ेके चमड़ेका प्रयोग होता है। इतना सुनना था कि वहीं श्रीसेठजीने चमड़ेके जूतोंका प्रयोग न करनेका व्रत ले लिया। जिन जूतोंको पहनकर सभामें गये थे, उन्हें भी वहीं छोड़ गये। काफी दिनों तक श्रीसेठजी नंगे पैर ही घूमते रहे। श्रीबैजनाथजी चौधरी, सीकरवालेने इस बातके लिये बड़ा प्रयत्न किया कि इस प्रकारके जूतोंका निर्माण किया जाय, जिसमें चमड़ेका प्रयोग हो ही नहीं। और वे अपने सतत प्रयत्नमें सफल हुए।

इसी प्रकार सफलता प्राप्त हुई श्रीहरिदत्तरायजीको काँचकी चूड़ियोंके प्रचारमें। पहले चूड़ियाँ लाखकी बना करती थीं। लाखके उत्पादनमें कीड़ोंकी हत्या होती है—श्रीसेठजीका अहिंसक हृदय इस बातको सहन नहीं कर सका। श्रीसेठजीकी प्रेरणासे

श्रीहरिदत्तरायजीने इस बातकी चेष्टा की कि काँचकी चूड़ियाँ स्त्रियोंको सुलभ हो सके। जहाँ-जहाँ भी काँचकी चूड़ियाँ बनती थीं, उन-उन स्थानोंपर घूमकर चूड़ियाँ प्राप्त करनेका प्रयास किया। मारवाड़ी समाजके स्त्री-पुरुषोंके मनमें यह धारणा जमी हुई थी कि नारीके सौभाग्य-सिन्दूरकी रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि महिलायें लाखकी बनी चूड़ियोंका ही प्रयोग करें। श्रीसेठजीने इस धारणाका उन्मूलन किया तथा जगह-जगह अपने प्रवचनोंमें काँचकी चूड़ियोंके प्रयोगपर बल दिया, जिससे जीव-हिंसा बंद हो। महिला-समाजमें श्रीसेठजीकी बातको आदर दिया गया और अब तो लाखकी चूड़ियोंका प्रचलन उठ गया है। माताओं-बहिनोंको लाख-रहित चूड़ियाँ मिल सकें, इसके लिये 'गोविन्द-भवन कार्यालय' में लाखरहित चूड़ियोंकी दूकान खोली गयी।

श्रीराधेश्याम बंका

****

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

श्रीभाईजीसे प्रथम मिलन

'कल्याण'के तीसरे वर्ष (सन् १९२९) के विशेषांक 'भक्तांक' को पढ़कर भाईजीसे मिलनेकी इच्छा हुई। उस समय मनमें कल्पना होती—'भाईजीकी आँखें सर्वदा बंद रहती होंगी, मुखमण्डलसे ज्योति निकलती होगी, गौर वर्ण होगा, सबसे अलग रहते होंगे, न जाने क्या-क्या विशेषताएँ उनमें होंगी। हमसे न जाने कितने दूर होंगे।' मिलनेकी उत्कण्ठा इतनी तीव्र हुई कि रुपये-पैसेका ख्याल न करके खाली हाथ जैसे था, वैसे ही चल पड़ा। दोहरीघाट स्टेशनतक रेलसे गया और वहाँसे गोरखपुर करीब २० मील पैदल।

उन दिनों भाईजी गोरखनाथके समीपवाले बगीचेमें रहते थे। पहले मैं गीताप्रेस पहुँचा और वहाँसे पैदल चल कर बगीचे आया। जब मैं वहाँ पहुँचा तो भाईजी वहाँसे प्रेस जा चुके थे। गोस्वामी श्रीचिम्मनलालजीसे कुछ बातचीत होती रही। ६-७ घंटे बाद करीब ८ बजे रात्रिको भाईजी प्रेससे लौटे।

मुझे देखते ही भाईजीने इस प्रकार मुझे पकड़कर गलेसे लगा लिया, जैसे मैं उनका कोई चिर-परिचित होऊँ। शान्तिसे बैठ जानेके बाद मैंने पूछा—'भगवान्में प्रेम कैसे हो?'

भाईजी बोले—

उमा राम सुभाउ जेहि जाना।
ताहि भजन तजि भाव न आना॥

इसके बाद दो-दो, तीन-तीन मिनटपर एक-एक वाक्य बोलते—'भगवान्का स्वभाव कितना दयालु है। वे अपने सेवकोंके अपराधपर दृष्टि नहीं डालते।' इत्यादि बातें घंटोंतक

होती रही। बीच-बीचमें भाईजीके नेत्रोंसे आँसू गिरते थे और मुझे भी रोमाञ्च हो आता था। बस, यही भाईजीका प्रथम दर्शन था। मैं तीन-चार दिन गोरखपुर रहा। भाईजीने कहा कि आपको अवकाश हो तो यहाँ कुछ दिन रहिये। परंतु मैं उस समय ठहर नहीं सका। भाईजी अपने घरके हो गये। न उनके मुखपर कोई ज्योतिमण्डल था, न आँखें हर समय बंद रहती थीं। वे तो हमें वैसे ही मिले, जैसे भाई-भाईसे मिलता है। वे हमसे दूर नहीं थे। बहुत निकट थे, परन्तु हमको इसका क्या पता था।

गोरखपुरसे श्रीभाईजीके शील, स्वभाव, प्रेम और सहानुभूतिकी स्मृति लेकर तीन-चार दिन बाद मैं घर लौट आया। भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता बढ़ी।

कुछ अनुष्ठान किये, कुछ-कुछ सफलता मिली, हृदय-मस्तिष्क कुछ निर्मल हुआ, भक्ति और वेदान्तमें एक साथ ही प्रवृत्ति हुई। घरसे भगा तो नर्मदातटके लिये, परन्तु झूसीमें ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीने रोक लिया। उस समय वहाँ 'अखण्ड संकीर्तन महायज्ञका' द्वितीय षाण्मासिक उत्सव प्रारम्भ हुआ ही था। कुछ ही दिनोंमें मैं वहाँ 'साधक'से 'कथावाचक' हो गया। लोगोंसे परिचय बढ़ा—गीताप्रेससे आये हुए साधक—गङ्गाबाबू, रामजीदासजी बाजोरिया एवं पुरुषोत्तम सिंहानियासे भाईजीके सम्बन्धमें कभी-कभी बातें होतीं। भाईजीकी ओर मेरा आकर्षण बढ़ने लगा। उन दिनों मैंने श्रीभाईजीको एक पत्र लिखा, जिसका उन्होंने बहुत सुन्दर उत्तर भी दिया।

अर्धकुम्भीके अवसरपर भाईजी झूसी आये, किंतु वे दो-तीन दिन ही वहाँ रह पाये। मुझसे कोई विशेष बातचीत न हो पायी; क्योंकि उन्हें वहाँपर अवकाश बहुत कम था और मैं उस समय मौन था। इसलिये केवल १०-५ मिनटके लिये केवल शिष्टाचारकी कुछ बातें हुईं और भाईजी वहाँसे वापस

गोरखपुर चले गये। झूसीका अनुष्ठान समाप्त होनेपर अयोध्या, ऋषिकेश, दिल्ली एवं चित्रकूट होता हुआ आषाढ शु०११, सं० १९९३ को मैं गोरखपुर 'गोयन्दका गार्डन'में पहुँच गया। अब इसका नाम 'गीतावाटिका' है। मेरे साथ ग्वालियरके बाबा रामदासजी एवं प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी अपनी-अपनी मण्डलियोंके साथ थे। वहाँ एक वर्षका 'अखण्ड संकीर्तन महायज्ञ' प्रारम्भ होनेवाला था। यहींसे हमारी और श्रीभाईजीकी घनिष्ठता प्रारम्भ हुई।

विस्मृति भी वे ही देते हैं

एक दिन मुझसे भाईजीने कहा—'भगवान्की स्मृति सदा नहीं रहती। वे बीच-बीचमें भूल जाते हैं।'

मैंने कहा—'भाईजी! यह विस्मृति भी तो वे ही देते हैं। उन्होंने गीतामें कहा है—**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**'

'विस्मृति भी वे ही देते हैं'—भाईजीने दुहराया और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी, शरीर रोमाञ्चित हो गया। वे भावविभोर हो उठे।

ऋण चुका रहा हूँ

एक दिन भाईजीके पास एक व्यक्ति आया। भाईजीसे बोला—'मेरी बीमार पत्नी अस्पतालमे है, सहायता दीजिये।' उन्होंने सहायता दी। कुछ दिन बाद आकर बोला—'अस्पतालमें उसे बच्चा हुआ है, सहायता दीजिये।' तब भी दी। कुछ दिन बाद फिर आकर कहने लगा—'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दी। पाँच-दस दिन बाद पुनः आया और बोला—'मर गयी, अन्त्येष्टि कैसे करें?' फिर भी दी। फिर कहा—'घर जानेके लिये किराया चाहिये।' फिर भी दी।

किसीने पूछा—'भाईजी, यह कैसा आदमी है? कोई ठग

लगता है।'

भाईजीने कहा—'मुझे पहले दिनसे मालूम है। न पत्नी बीमार है, न बच्चा हुआ; न अस्पताल, न मृत्यु। किंतु जब यह मेरे सम्मुख आकर बैठता है, तब लगता है कि इसने पूर्वजन्ममें मुझे कोई ऋण दे रखा था। इसका मैं ऋणी हूँ और वही चुका रहा हूँ।

भाईजीके मनमें यह भाव ही नहीं था कि 'मैं इसपर उपकार कर रहा हूँ।' ठगके प्रति दुर्भावकी तो बात ही क्या?

विलक्षण सद्भाव

श्रीभाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दारके व्यवहारमें सद्भाव सौजन्यकी झाँकी पद-पदपर देखनेको मिलती थी। एक सज्जन थे। आश्रमसे ब्रह्मचारी। वेश-भूषामें साधु। 'कल्याण' परिवारमें हम सब साथी थे। ब्रह्मचारीजीके मनमें रात्रिके समय काम-वासना प्रबल हो जाती थी। कई बार इतना उन्माद हो जाता था कि रास्ते-बे-रास्ते स्त्रियोंके निवासमें घुसनेका प्रयास करते थे। कई बार पकड़े गये, समझाया गया, स्वीकार करते परन्तु वे अपने पागलपनपर काबू न पा सके।

वहाँके प्रमुख व्यक्ति एकत्र हुए। भाईजीसे कहा गया कि उन्हें बगीचेसे निकाल दिया जाय। भाईजीने कहा—'निकालनेपर इनकी बदनामी हो जायगी। किसीके यशकी हत्या करना उचित नहीं है। इनमें हीन भावनाका उदय होगा फिर ये किसी कामके नहीं रह जायेंगे।'

अन्ततः भाईजीने उन्हें एक बहुत बड़े परोपकारी काममें लगाकर बाहर भेज दिया। वर्षों तक प्रचुर मात्रामें आर्थिक सहायता करते रहे। वे जनताके लिये बड़े कामके सिद्ध हुए। ब्रह्मचारीजी तो अब नहीं हैं परन्तु उनका काम अब भी लोगोंका हित कर रहा है।

सौजन्यकी मूर्ति

श्रीशिवकुमार केडिया वृन्दावन वास करते थे। भगवान्‌के भजनमें उनकी अत्यन्त रुचि थी। अच्छे वंशके प्रतिष्ठित विद्वान् थे। प्रारंभमें उनके घरसे उन्हें निर्वाहके लिये धन आया करता था। बादमें कुछ अड़चन आ गयी। वे बड़े संकोचसे रहने लगे। भोजन वस्त्रका भी कष्ट था परन्तु वे देनेपर भी किसीसे कुछ लेते नहीं थे।

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीने उन्हें कहा कि हमारी इच्छा भगवान्‌के नामोंका संग्रह करनेकी है आप इस काममें हमारी सहायता कीजिये। केडियाजी व्रज साहित्यसे और बादमें सभी शास्त्रोंसे नाम-संग्रह करते रहे। भाईजी उन्हें आने जाने, पुस्तक प्राप्त करने और खर्चके लिये सैकड़ों रुपये मासिक देते रहे। बहुत वर्षों तक उन्होंने भगवान्‌के कई लाख नामोंका संग्रह किया।

मैंने पूछा—'भाईजी, यह सब क्या होगा?'

वे बोले—'केडियाजी वैसे तो कुछ लेते नहीं थे। इस तरह लेंगे भी और अपनी रूचिका काम करेंगे।'

मेरा संन्यास

मैं जब 'कल्याण' परिवारमें एक सदस्य था, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दर्शन करने गङ्गातटपर कर्णवास आया। बाबा बोले—'क्यों शान्तनु! वहाँ सब ठीक है?' मैंने कहा—'हाँ महाराज। सेठजीकी निष्ठा बड़ी पक्की है। भाईजी बड़े भक्त हैं। हमसे बहुत प्रेम भी करते हैं।' बाबाने कहा—'अच्छा शान्तनु! मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ—'

'एक थे महात्मा, सर्वथा विरक्त साधु। विचारशील और त्यागी। वे गाँव-गाँव, ठाँव-ठाँव कहते-फिरते—कहीं कब्र हैं,

कब्र?' गृहस्थ उनका अभिप्राय समझ नहीं पाते थे। एक थे गृहस्थ ज्ञानी, असङ्ग और निष्ठावान। वे समझ गये और अपने घरकी ओर उँगली दिखाकर बोले—'महाराज! कब्र तो यह है, कहीं मुर्दा भी है?'

साधुने अपने शरीरको मुर्दा बताया और उनके घरमें घुस गये। उनके लिये एकान्त कमरेकी व्यवस्था हो गयी। वे किसीसे मिलते-जुलते नहीं थे। इस तरह बारह वर्ष बीत गये। एक दिन गृहस्थके घर चोर घुसे। लाखोंकी सम्पत्ति समेटकर जाने लगे। साधुके मनमें आया—'मैंने बारह वर्षतक इसकी रोटी खायी। मेरी आँखोंके सामने इसकी चोरी हो जाय, क्या यह उचित है? मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं?'

वे चोरोंके पीछे लग गये और जगह-जगह कोपीन फाड़ कपड़े बाँध दिये। जिस कुएँमें चोरोंने सम्पत्ति डाली, उसे पहचान लिया। दूसरे दिन साधुके बतानेपर चोर पकड़े गये और सम्पत्ति मिल गयी।

स्वस्थ और शान्त होनेपर एक दिन गृहस्थने साधुसे प्रश्न किया—'महाराज! कब्र सच्ची, मुर्दा झूठा।' और वे वहाँसे विरक्त होकर निकल पड़े।

बाबाके इस उपदेशको मैंने संन्यासकी प्रेरणा समझी। सचमुच भाईजी और उनके परिवारसे घनिष्ठता बढ़ती जा रही थी। मैंने संन्यास अपनी आनुवंशिक घर-गृहस्थीसे नहीं, भाईजीके परिवारसे ही लिया।

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

****

'कल्याण' के प्रेसको जप्त कर लूँगा

एक बार सेवाग्राममें मैंने बाबा राघवदासजीके सामने एक घृष्टतापूर्ण मजाक कर दिया। किसी विषयपर वाद-विवाद

चल रहा था, शायद सत्साहित्यके प्रचार और अश्लील साहित्यकी रोकथाम पर।

बाबा राघवदासजीने मुझसे कहा—'यदि आपके हाथमें सत्ता हो तो आप क्या करेंगे?'

मैंने उत्तर दिया—'पहला काम तो मैं यह करूँगा कि 'कल्याण' के प्रेसको जप्त कर लूँगा और उसके द्वारा अपने सत्साहित्य सम्बन्धी विचारोंका प्रचार करूँगा।'

बाबाने हँसकर कहा—'कल्याण तो प्रारम्भसे ही सत्साहित्यका प्रचार कर रहा है। आप जानते ही होंगे कि मेरा पोद्दारजीसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।'

मैंने कहा—'यह तो मैं भली-भाँति जानता हूँ, पर ऐसा बढ़िया संगठित प्रेस हमें कहाँ मिल सकता है?'

बाबाजी खूब हँसने लगे और बोले—'आपकी क्रान्तिकारी आयोजनाकी बात मैं पोद्दारजीको सुनाऊँ।'

मालूम नहीं कि उन्होंने मेरा मजाक उन तक पहुँचाया या नहीं, पर मैं श्रद्धेय पोद्दारजीके उत्तरकी कल्पना कर सकता हूँ। वे यही कहते—'चीज तो दूसरोंकी जप्त की जाती है। अपनी चीजका जप्त करनेका कुछ अभिप्राय ही नहीं। सत्साहित्यके प्रचारके लिये कल्याणके सब साधन प्रस्तुत हैं। कोई भी भलामानुस उसका उपयोग कर सकता है। मेरा वह मजाक निःसंदेह धृष्टतापूर्ण था, पर पोद्दारजीकी उदारतापर मुझे विश्वास था।'

संस्कृतके पण्डितोंके प्रति उदारता

संस्कृतके एक पंडितजी मेरे पास आये और अपनी आर्थिक कठिनाईकी बात कही। मैं उन दिनों 'विशाल भारत'का सम्पादन करता था। मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की, तो उन्होंने कहा—'किसी साधन-सम्पन्न व्यक्तिको पत्र ही लिख दीजिये।'

मुझे उस समय भाई पोद्दारजीका शुभ नाम याद आ गया और इस आशासे कि वे दस-बीस रुपये उन पण्डितजीको भेज देंगे, उन्हें पत्र लिख दिया। मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब उन पण्डितजीने यह समाचार मुझे सुनाया कि पोद्दारजीने ७५/- रुपये भेज दिये हैं। पोद्दारजीका बड़ा विनम्रतापूर्ण पत्र भी मुझे मिला, जिसका आशय यह था कि 'संस्कृतके पण्डित प्रायः निर्धन होते हैं, उनका काम दस-बीस रुपयेसे नहीं चल सकता।'

हमारे एक पत्रकार-बन्धुके अनुज क्षयरोगसे पीड़ित हो गये। मैंने फिर पोद्दारजीसे सहायता माँगी। उन्होंने फिर ७५/- रुपये उन्हें भेज दिये, जबकि दूसरोंने दस-दस, पाँच-पाँच ही भेजे थे।

दिल्लीमें जब मैंने 'हिन्दी-भवन' खोला तो पुनः पोद्दारजीकी सेवामें निवेदन किया। उन्होंने तुरंत १५०/- रुपये भेज दिये। साथमें उन्होंने एक पत्र भी लिखा, जिसका आशय यह था— मैं स्वयं पैसेवाला आदमी नहीं हूँ। ऐसे अवसरों पर अपने उदार मित्रोंसे कुछ रुपये ले लिया करता हूँ।

श्रीभाईजीकी उदारता

एक बार शायद 'कल्याण' प्रेसके कम्पोजीटरोंमें कुछ असन्तोष फैल गया था और उसकी खबर गोरखपुरसे किसीने मुझे भेज दी थी। मुझे याद पड़ता है कि मैंने 'विशाल भारत' में प्रेसके मालिकोंके विरुद्ध एक व्यंग्यात्मक नोट लिखा दिया था, पर श्रीपोद्दारजीने उसको बिल्कुल बुरा नहीं माना। यह उनकी उदारता थी।

श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी

****

आदर्श गृहस्थ श्रीभाईजी

आदर्श साधु होना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है आदर्श गृहस्थ होना। मैंने इस युगमें भी आदर्श साधु अनेक देखे हैं। अपरिग्रह, तितिक्षु, संयमी साधुओंका अब भी देशमें अभाव नहीं है; किंतु आदर्श गृहस्थ मैंने केवल एक देखा है और वे थे श्रीभाईजी।

आदर्श गृहस्थके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका आदेश है—

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम॥

(७/१४/५-६)

(पण्डितः)प्रबुद्ध विवेकशालिनी बुद्धिवाला व्यक्ति अपने शरीरमें और घर-परिवारमें भी जितना प्रयोजन है, उतना ही सम्पर्क रखे। (विरक्तों) सर्वथा राग-आसक्ति रहित रहकर भी आसक्तके समान (नृलोके) मनुष्य समाजमें (नरतां न्यसेत्) अपनी मनुष्यता स्थापित करे।

जातिके लोग, माता-पिता, भाई तथा दूसरे बन्धु-बान्धव जो कहें और जो चाहें, उसका ममता रहित होकर अनुमोदन करे।

श्रीभाईजी कैसे रहते थे, यह जिन्होंने नहीं देखा है, कठिनाईसे समझ सकते हैं। उन्हें घर तथा घरकी व्यवस्थासे कोई मतलब ही नहीं था। क्या कर रहे हैं घरके लोग और घरमें क्या है, क्या नहीं—इससे कोई प्रयोजन उन्हें नहीं था।

भोजन जो सामने आया कर लिया। स्नानादिके लिये भी जब दूसरे कहते थे, तब उठते थे। शौचालय, स्नानघर प्रभृतिमें दूसरोंको असुविधा न हो, यह उनके लिये पहली बात थी।

उन्होंने नरलोकमें कैसा अपनी नरताका न्यास किया था।

पता नहीं कितनी सामाजिक, धार्मिक संस्थाओंका दायित्व ले रखा था उन्होंने। कुष्ठाश्रम, गोरक्षा आन्दोलन, अकाल-बाढ़ पीड़ित सहायता और साथमें 'कल्याण' का सम्पादन। अत्यन्त व्यस्त रहते थे वे। जब बहुत अस्वस्थ थे, तब भी बहुत व्यस्त रहते थे। ऐसे व्यस्त, इतना उत्तरदायित्व निभाते व्यस्त कि लगता था, कितने आसक्त होंगे इन कामोंमें; किंतु कहीं उनका कोई लगाव नहीं था। कहीं आसक्ति उनमें कभी दीखी नहीं।

अच्छे संयमी-सद्‌गुणी, विवेकशील लोग भी कह देते हैं—'बच्चोंको तथा अपने आश्रितोंको सम्भालने, सुधारने, शिक्षित करनेका दायित्व तो हमपर है ही। यह तो कर्तव्य है।'

यह कर्तव्य है या मोह? आपके ही बच्चे क्यों सुधरें या शिक्षित हों? आपके आसपास जो अनाथ, असहाय बच्चे हैं, वे आपके नहीं हैं? लेकिन अपनोंकी ममता—यह मोह छोड़ देना बहुत कठिन है। अपनी मान्यता, अपनी समझके अनुसार चलनेका आग्रह अपने आश्रितों पर लादनेमें कौन कितना सावधान रह पाता है?

श्रीभाईजीके माता-पिता जब जीवित होंगे, उस समय उनसे मेरा परिचय नहीं था। मेरा परिचय हुआ तब श्रीभाईजीकी एकमात्र सन्तान उनकी पुत्री थी और उसके दो पुत्र, दो कन्याएँ थीं। यह सब श्रीभाईजीके साथ ही रहते थे। दूसरे भी अनेक लोग श्रीभाईजीके परिवारके अभिन्न अंग हो गये थे। अब उस परिवारके अंग हैं। ये सब लोग कैसे रहें, क्या करें, इसपर श्रीभाईजीने कोई अंकुश कभी नहीं रखा। कभी देखा भी नहीं कि कौन क्या करता है। इसके लिये उन्हें अनेकोंने दोष दिया कि वे अपने आश्रितोंको ठीक चलानेकी ओर ध्यान ही नहीं देते।

किसीकी—अपने दौहित्रों तककी कोई बात भाईजीको ठीक नहीं लगती तो एकाध बार केवल सम्मति देनेके ढंगसे

अपनी बात कह देते थे। उसपर ध्यान दिया गया तो ठीक, न भी दिया जाय तो कोई आग्रह नहीं।

घर, परिवारके लोग जो करनेको कहते थे, जो मांग करते थे, उसे उनकी इच्छानुसार पूरा करनेका वे प्रयत्न करते थे। इसका एक उदाहरण स्मरण आता है।

बाई सावित्री (श्रीभाईजीकी पुत्री) को कर्णमूल ग्रान्थिशोथ (मक्स) हो गया। ज्वर था, पीड़ा थी। घरके लोगोंने डाक्टर बुलवानेको कहा। श्रीभाईजीने डाक्टर बुलवा दिया चिकित्सा चलने लगी।

यह संक्रामक रोग है। गीतावाटिकाका चौकीदार भवानीसिंह इस रोगसे पाँच-सात दिन बाद ग्रस्त हुआ। उसका भाई जीवबोधन सिंह दवाके लिये श्रीमाधवशरणजीके पास आया। माधवशरणजीने होम्योपैथिक दवाकी तीन पुड़िया बनायीं; किन्तु हिचक गये। बोले—'घरसे पुस्तक देखकर दवा देंगे।' यह कहकर वे घर चले गये।

जीवबोधन सिंहने मुझसे कहा—'भैयाको बहुत कष्ट है। आप उन्हें देख लें।'

मैंने जाकर देखा कि भवानीसिंहको तेज ज्वर है। कर्णमूल ग्रन्थिमें शोथ एवं पीड़ाके कारण वह कुछ पेय भी नहीं ले सकता था। माधवशरणजीने मेरे सामने ही दवाकी पुडिया बनायी थी। मुझे लगा कि उनका पहिला निदान ही ठीक था। मैंने वहीं पुड़िया जीवबोधन सिंहको दे दी कि—'आधे-आधे घंटेपर रोगीको दे दो।'

प्रातःकाल जब मैं अपने नित्यकर्मसे निवृत्त हो चुका श्रीभाईजी मेरे कमरेके द्वार पर आकर बड़े उत्साहसे बोले—आप चमत्कार कर सकते हैं, यह आज पता लगा। भवानी सिंह रात्रिमें ही स्वस्थ हो गया। वह स्नान करके दूध लाने चला गया है।

मैंने कहा—'इस रोगकी औषधि तो आप भी जानते हैं।'

श्रीभाईजी होम्योपैथिक चिकित्साके अच्छे जानकार थे। उन्होंने दवाका नाम लेकर पूछा—'आपने यही दी थी?'

मैंने स्वीकार करके पूछा—'सावित्री सप्ताह भरसे कष्ट पा रही है। उसे आपने दवा क्यों नहीं दी? ऐसे तो उसे अभी और आठ-दस दिन स्वस्थ होनेमें लगेंगे।'

श्रीभाईजीका उत्तर मुझे कभी भूला नहीं। उन्होंने कहा—'औषधि मैं दे सकता था या आपसे कहता तो आप दे देते; किन्तु तब सबका सन्तोष नहीं होता। स्वस्थ तो वह हो जाती, पर सब यही समझते कि मैंने पैसे बचानेके लिये डाक्टर नहीं बुलवाया। रोगको तो प्रारब्ध पूरा करके जाना है। कुछ दिन और थोड़ा कष्ट हो लेगा तो कोई विशेष बात नहीं; किन्तु उसको, उसकी माँको, दूसरोंको भी संतोष तो है कि चिकित्सा ठीक चल रही है।'

गीतवाटिकाके समीप रहनेवाले तथा गोरखपुर नगरके मारवाड़ी परिवारोंके लोग अपनी घरेलू समस्यायें लेकर आते थे, उनके परस्पर-विवादको सुनना तथा उनको समझाकर, सन्तुष्ट करके विदा करना सरल काम नहीं था। यह पञ्चायत प्रायः जुटी रहती थी और कई-कई घंटे लगते थे इसमें। श्रीभाईजीके निकट रहनेवाले जानते हैं कि भाईजी ऐसे लोगोंके आने पर ऐस्प्रो अथवा सोरोडीनकी गोलियाँ खा-खाकर यह काम करते रहे कई वर्षोंतक; क्योंकि लगातार कई वर्ष अस्वस्थ थे। उनके स्वास्थ्यकी स्थिति यह थी कि उन्होंने 'हिन्दू संस्कृति अंक'के सम्पादनके समय सन् १९४९ ई० में मुझसे कहा था—'मुझे नेत्र पलक खोलनेमें भी कष्ट होता है। चुपचाप पड़े रहनेको जी करता है।'

अपने शरीरके प्रति भी कितने निर्मम थे वे, यह इसीसे समझा जा सकता है कि पीड़ा-शामक गोलियाँ लेकर वे

लोगोंका केवल विवाद ही नहीं सुलझाते रहे, तीर्थयात्रा ट्रेनमें सबके आग्रहके कारण साथ गये। 'कल्याण' का सम्पादन करते रहे। साथ-साथ जो सहायताके, गोरक्षाके कार्य ले रखे थे, उनको भी करते रहे।

गृहस्थका प्रधान धर्म है अतिथि-सत्कार इस सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं कहूँगा। जिनको भी श्रीभाईजीके समीप जानेका अवसर मिला है, वे उनके आतिथ्यकी तत्परतासे अवगत हैं।

गृहस्थका प्रधान धर्म है अतिथि-सत्कार इस सम्बन्धमें मैं कुछ नहीं कहूँगा। जिनको भी श्रीभाईजीके समीप जानेका अवसर मिला है, वे उनके अतिथ्यकी तत्परतासे अवगत है।

'**गृहेष्वतिथिवद् वसन्**'—आदर्श गृहस्थ वह जो घरमें अतिथिके समान तटस्थ रहे। इस प्रकार रहने वाले गृहस्थ मुझे केवल श्रीभाईजी ही मिले थे।

मुझसे झगड़िये

मेरी कहानियोंके कुछ संग्रह गीताप्रेसने छापे। 'कल्याण'में उनकी सूचना देखकर मैंने खूब कड़ा पत्र भाईजीको लिखा। उत्तर आया—बीमारी चलते हुए स्वयं उन्होंने उत्तर दिया था—'आपकी कहानियोंको मैंने सहज भावसे वैसे ही छपने भेज दिया, जैसे अपनी कोई रचना भेजता हूँ। आपसे पूछना भी चाहिये, यह स्मरण नहीं आया। अब झगड़ना हो तो मुझसे झगड़िये।'

कड़वी तूम्बीका शाक

बहुत पहलेकी बात है। तब गीतावाटिकामें बिजली नहीं थी। घरमें घिया (लौकी) का शाक बना। भाईजीको पहले भोजन करानेको बैठा दिया गया। उन्होंने अचानक कहा—'बहुत अच्छा बना है, मैं शाक ही खाऊँगा। सब मुझे दे दो।'

'घियाका जितना शाक बना था, सब वे खा गये।' भाभीजी जब उनकी थालीमें भोजन करने बैठी, तब जहाँ घियाका शाक पड़ा था, वहाँ पड़ा भात कड़वा हो गया। तब कहीं पता लगा कि शाक कड़वी तूँबीका बन गया था। पूछनेपर भाईजीने पत्नीसे कहा—मैं तो चाहता था कि महाराजिनको दुःख न हो कि मैंने बिना शाक आज भोजन किया। 'तुमने बतलाकर मेरा उद्देश्य ही नष्ट कर दिया।'

श्रीभाईजीकी सहनशीलता

गीतावाटिकामें मैं जिस कोठरीमें रहता था, मेरे कार्यालय चले जानेपर श्रीभाईजीके प्रियजन उस कोठरीमें फोटोग्राफीका कुछ काम सीखते। पुरानी पुस्तकोंकी फोटो प्रति बनाते। उनसे अपेक्षा थी कि मेरे कोठरीमें आनेसे पूर्व काम समाप्त करके, सब सामान तख्तेके नीचे करके चले जाया करें। बड़ी सावधानीसे वे इस अपेक्षाका निर्वाह करते थे।

एक दिन उनमें-से किसीसे थोड़ी भूल हुई। इन्लार्जर वे तख्तेके नीचे थोड़ा कम खिसका गये। मैं रात्रिमें सोकर उठा तो मुझे ठोकर लगी। चोट तो नहीं लगी, किन्तु झल्लाकर मैंने इन्लार्जर उठाकर बाहर फेंक दिया। उसके शीशे टूट गये, कैमरा दूर जा गिरा। मैं तो समय पर कार्यालय चला गया, किन्तु उन लोगोंने बाहर पड़े शीशेके टुकड़े चुनकर उठाये। मेरी कोठरीसे सब सामान उठा ले गये।

बात श्रीभाईजी तक न जाय, सम्भव नहीं, किन्तु कुछ हुआ भी, इनकी चर्चा मेरे कान तक कभी नहीं आयी।

एक बार ही नहीं, तीन या चार बार मेरे औद्धत्यसे मेरी उच्छृंखलतासे, मेरे असंयमसे वहाँके लोगोंको बहुत क्षोभ हुआ। उनका क्षोभ उचित था। भाईजीके पास जानेके अतिरिक्त उनके पास उपाय नहीं था। किन्तु परिणाम? वे भाईजीके पास

गए और कुछ कहा—यह बात भी मुझे पता न लगती, यदि कोई दूसरा मुझे वह न बतलाता।

श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र'

****

हिन्दु-संस्कृतिका महान् आदर्श

गोरखनाथ-मन्दिरके नये भवनका शिलान्यास था, शहरके प्रतिष्ठित व्यक्ति आमन्त्रित थे। श्रीभाईजी रेलवेके जनरल मैंनेजरके साथ आगे सोफासेटपर बैठे थे। श्रीअक्षयबाबूका भाषण हो रहा था। वे हिन्दू संस्कृतिपर बोल रहे थे। भाषण पूरा होनेपर वे बैठनेके लिये आये, जनरल मैंनेजर एवं भाईजीने उठकर उनका स्वागत किया और सोफेपर बैठा लिया। जनरल मैनेजर भी अक्षयबाबूके साथ-साथ बैठ गये, पर भाईजी अक्षयबाबूके समान आसनपर कैसे बैठते। वे तो उन्हें अपने गुरुजनके रूपमें आदर देते आये हैं। वे अक्षयबाबूके चरणोंके समीप नीचे जमीन पर बैठ गये। जनरल मैनेजरने आश्चर्य प्रकट किया और भाईजीका हाथ पकड़कर वे उन्हें ऊपर सोफेपर बैठानेका प्रयत्न करने लगे, पर श्रीभाईजी टस-से-मस नहीं हुए। श्रीअक्षयबाबू भाईजीके इस शील-स्वभावको देखकर गद्‌गद हो गये और उनकी आँखोंसे स्नेहके आँसू टपक पड़े। उन्होंने जनरल मैनेजरसे कहा—'यही हिन्दू-संस्कृति है।' जनरल मैनेजर भी हिन्दू संस्कृतिके इस महान् आदर्शको देखकर मुग्ध हो गये।

विलक्षण दान

एक बारकी बात है, मैं नानाजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)के कमरेमें बैठा हुआ था। भयंकर जाड़ेकी रात थी। रातके लगभग १०-११ बज रहे थे। मैं उन्हींके पास सोया करता था। एक दिन मैंने देखा, नानाजी सोनेका उपक्रम तो

कर रहे हैं, पर वास्तवमें वे सोना नहीं चाह रहे हैं। मैंने नानाजीसे पूछा कि वे सो क्यों नहीं रहे हैं तो इसपर उन्होंने उत्तर दिया कि कोई बात नहीं है, तुम सो जाओ। पूज्य नानाजीसे कोई संतोषजनक उत्तर न पानेपर मुझे कौतूहल हुआ। मैं भी सोनेका उपक्रम करके आँखें बन्द करके लेटा रहा।

रातके लगभग एक बज गया। मैंने देखा, एक जीप गाड़ी आकर रुकी जिसमें पीछे लगे ट्रेलरमें कम्बल लदे हुए हैं। यह भी देखा कि बगीचेमें जीपके रुकते ही पूज्य नानाजी बड़ी उतावलीसे कहीं जानेकी तैयारी करने लगे। यह मुझे बड़ा आश्चर्यजनक लगा और मैं तुरन्त उठ बैठा। मुझे अचानक जाग गया देखकर उन्होंने मुझे सो जानेके लिये कहा, परन्तु मैंने उनसे उनके साथ जानेका आग्रह किया और मेरे इस आग्रहको देखकर अथवा कदाचित् मेरे जीवनमें एक विलक्षण प्रकारके दानका बीज अंकुरित करनेके लिये उन्होंने मेरे आग्रहको स्वीकार कर लिया। हम दोनों आकर जीपमें बैठे और जीप चल पड़ी।

थोड़ी ही देरमें हम शहरके बाहर उन निर्जन सड़कोंपर पहुँच गये जहाँ वस्त्रहीन आर्तनारायण (पूज्य नानाजी गरीब-असहाय लोगोंको इसी नामसे पुकारा करते थे) किसी दानीकी नहीं, केवल यमराजके आवाहनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक स्थानपर जीप रुक गयी। देखा, सामने एक वस्त्रहीन व्यक्ति सड़कके किनारे पड़ा हुआ था। ठण्डके कारण उसका सारा शरीर अचेतनप्राय हो चला था। कहना कठिन था कि वह होशमें है या नहीं। मैंने देखा—नानाजी बड़ी शीघ्रतासे जीपसे उतरे और एक कम्बल लेकर उस व्यक्तिके ऊपर सिरसे पाँव तक डाल दिया। इतनेमें पूज्य नानाजीके साथ दूसरे महानुभावने उन आर्तनारायणको हिलाकर थोड़ा-सा जगा दिया और जबतक आर्तनारायणकी दृष्टि इस विलक्षण दानीपर पड़े, हमलोग चल

पड़े।

इस विलक्षण पद्धतिको देखकर मुझे बड़ा ही आह्लाद हुआ। साथ ही मेरे मनमें एक शंका भी जागृत हुई—जब उस व्यक्तिको यह नहीं जानने देना है कि दाता कौन है तो उसे जगानेका क्या अभिप्राय? यह प्रश्न मैंने निस्संकोच पूज्य नानाजीके सामने रख दिया। मुस्कराकर उन्होंने उत्तर दिया—'भैया! सभी तरहके लोग होते हैं। यह बेचारा तो अचेतन पड़ा हुआ है, कोई दूसरा व्यक्ति इसे इस अवस्थामें देखकर यह वस्त्र उठा ले जा सकता है और फिर यह उसी अवस्थामें छोड़ दिया जा सकता है जिसमें कुछ क्षण पूर्व पड़ा हुआ कष्ट पा रहा था। अतएव इसे जगाकर केवल इतना ज्ञान कराया जाता है कि इसके पास ओढ़नेका कोई वस्त्र है जिसको वह अच्छी तरह दबाकर ओढ़ ले एवं संभालकर रखे।' उन्होंने यह भी बताया कि दान देना केवल देनेके लिये ही होना चाहिये, मनमें कदापि यह भावना नहीं होनी चाहिये कि मेरी प्रशंसा हो, लोगोंमें मेरे दानका प्रचार-प्रसार हो अथवा दान लेनेवाला मेरे प्रति कृतज्ञ हो।

जीप आगे बढ़ती रही और दानका यह क्रम चलता रहा। हमारे साथ शहरके जो कतिपय गणमान्य व्यक्ति और थे, उनसे ज्ञात हुआ कि प्रत्येक वर्ष जाड़ेकी इन्हीं भीषण रातोंमें दानका यह कार्यक्रम चलता रहता है। उन्होंने यह भी बताया कि उन लोगोंने कई बार पूज्य नानाजीसे अनुरोध किया है कि वे स्वयं जाकर यह सब काम कर लिया करेंगे, आप इस अवस्थामें इस समय इतना कष्ट न करें, पर उन्हें तो इसमें जो आनन्द आता है, वह उस कष्टकी तुलनामें नगण्य था। बादमें यह भी पता चला कि केवल गोरखपुरमें ही नहीं, अन्य नगरोंमें भी पूज्य नानाजीके मित्र एवं सहयोगियों द्वारा उनके आदेशानुसार यह कार्यक्रम चलता रहता है।

श्रीसूर्यकान्त फोगला

****

करम करहिं जो नित्य महाना।
आत्म-प्रशंसा सुनहिं न काना॥

एक बार अपने कुछ साथियोंके साथ पोद्दारजी तीर्थाटन करते हुए मथुरा पधारे। तीर्थ-यात्रियोंके सम्मानमें मथुराके लक्ष्मीदास-हालमें एक समारोहका आयोजन किया गया। इन पंक्तियोंका लेखक भी इस समारोहके आयोजकोंमेंसे एक था। समारोहमें एकके बाद दूसरे वक्ताने पोद्दारजीके ऋषितुल्य जीवनकी महिमापर प्रकाश डाला। कुछ वक्ताओंने तो पोद्दारजीके कार्य कलापोंकी उपमा महर्षि वेदव्यासके कर्तृत्वसे दे डाली। कई वक्ताओंने उन्हें 'आधुनिक भारतका वेदव्यास' कहा। हमने पोद्दारजीका ध्यान श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी दुर्दशाकी ओर आकृष्टकर निवेदन किया कि मथुरामें प्रतिवर्ष लाखों यात्री आते हैं। किन्तु ऐसा कौन होगा, जिसका हृदय श्रीकृष्ण-जन्मभूमिकी वर्तमान दुरावस्थाको देखकर शतधा विदीर्ण न होता हो।' सब सुननेके बाद अश्रुपूरित नेत्रोंसे पोद्दारजीने कहा—

'आप लोगोंने प्रेमके वशीभूत होकर मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। मैं एक अत्यन्त क्षुद्र प्राणी हूँ। जिन परमवन्दनीय महर्षियोंके नामके साथ आपने मुझे सम्बद्ध किया है, मैं उनके चरणोंकी धूलि भी नहीं हूँ। मेरी तो सदैव यह कामना रही है कि मैं उनके चरण-कमलोंकी भक्तिके योग्य बन सकूँ। आप मुझे यही आशीर्वाद दीजिये। जन्मस्थानके प्रति जो कुछ कहा गया, उससे मैं पूर्ण सहमत हूँ। एतन्निमित्त अपने क्षुद्र प्रयास भी करनेको प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही दस हजार रुपये आप लोगोंकी सेवामें भेजूँगा। वास्तवमें यह कार्य आपके ही कर्त्तव्यपालनकी अपेक्षा करता है।' पोद्दारजीके इस विनम्र वक्तव्यपर उपस्थित

लोगोंने हर्ष–ध्वनि की।

उसके पश्चात् श्रीपोद्दारजीने तत्काल दस हजार रुपये भिजवा दिये और तभीसे श्रीकृष्ण–जन्मस्थानका विकास कार्य बढ़ने लगा। धार्मिक जगत् और हिन्दी–संसार तो पोद्दारजीका ऋणी है ही, ब्रजक्षेत्र भी उनकी अनुपम सेवाओंके कारण सदैव उनका आभारी रहेगा।

श्रीवृन्दावनदास, अध्यक्ष, व्रजसाहित्य मण्डल

****

बनियासे महात्मा

श्रीसेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)के देहावसानपर १२ दिनका अखण्ड हरिनाम संकीर्तन हुआ। २८ अप्रैल १९६५ को उसकी सम्पन्नताका दिन था। संयोगकी बात थी कि उसी समय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी भी आ गये। सबका उत्साह बढ़ गया। बड़ा भावपूर्ण कीर्तन हुआ। १२ दिनका कीर्तन तो सम्पूर्ण हुआ और साथ ही १२ माहका अखण्ड कीर्तन आरम्भ हो गया।

इसके बाद स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजीके दर्शनके लिये पूज्य श्रीभाईजी तथा श्रीप्रभुदत्तजी परमार्थ निकेतन गये। स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजीका स्वास्थ्य खराब था। वहाँपर और भी संत आ गये—स्वामी श्रीभजनानन्दजी, स्वामी श्रीचक्रपाणिजी आदि।

प्रयत्न इस बातका चला कि श्रीशुकदेवानन्दजी मौन ले लें। बोलें नहीं। इसके लिये श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने बड़ा आग्रह किया। श्रीभाईजी भी इसके लिये आग्रह करने लगे। फिर प्रभुदत्तजीने कहा—क्या करें, जो अन्दर चिन्तन होता है, वही बाहर आये बिना रहता नहीं। मैंने कई बार कान पकड़ा कि अब कोई सम्मेलन नहीं करूँगा, पर पहले एक सम्मेलन करता था तो अब दस सम्मेलन करता हूँ। पहले १ लाखकी

भीड़ होती थी तो अब १० लाखकी होती है। अब तो कई एकड़ जमीनमें खेती की है। हम तो पूरे बनिया हो गये। फिर भाईजीकी ओर मुँह करके कहते हैं—'आप तो बनियासे महात्मा हो गये और हम महात्मासे बनिया हो गये।'

एक राजाकी गाथा है। उसका एक बड़ा मित्र संन्यासी था। दोनोंकी मृत्यु हुई। मृत्युके बाद दूसरे जन्ममें राजा संन्यासी हो गया और संन्यासी राजा हो गया। दोनोंमें फिर बड़ी मित्रता हो गयी। दूसरे जन्मके राजाने पूछा—यह बात कैसे हुई? इसके उत्तरमें संन्यासी बोला कि पहलेवाले जन्ममें मैं राजा था और निरन्तर मित्र संन्यासीका चिन्तन करता था, अतः मरनेपर संन्यासी हो गया। इसी तरह संन्यासी राजा हो गया।

यही बात भाईजीके साथ—हम महात्मासे बनिया हो गये और भाईजी बनियासे महात्मा हो गये। इसपर सभी मुस्करा पड़े। फिर ब्रह्मचारीजीने कहा—'कोई बात नहीं हम इस हालमें भी मस्त हैं।'

सीढ़ी-रचना

गीतावाटिकामें सम्पादकीय कार्यालयके नवीन भवनका निर्माण हो रहा था। कल्याण, कल्याण-कल्पतरु तथा प्रकाशन सम्बन्धी कार्यके विस्तारके साथ-साथ भवनकी आवश्यकताकी अनुभूति अधिकाधिक होती जा रही थी। भवन काफी बन चुका था। भवनको दिखलानेके लिये श्रीभाईजीने पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजको बुलाया। पूज्य स्वामीजी आये तथा श्रीभाईजी उन्हें अपने साथ भवन दिखलानेके लिये ले गये।

श्रीभाईजी स्वामीजीको छतपर ले जाना चाहते थे। पर सीढ़ीके नीचेका हिस्सा नहीं बना था, एक-दो सीढ़ी बाकी थी। पूज्य स्वामीजी ठीक प्रकारसे चढ़ सकें, एतदर्थ श्रीभाईजी ईंटें

रखने लगे।

श्रीभाईजीको ईंट-पर-ईंट रखते देखकर स्वामीजीने मधुर विनोद किया—'क्या आप मेरे लिये 'सीढ़ी' बना रहे हैं?'

तुरन्त श्रीभाईजीने विनीत हृदयकी विनम्र वाणीमें उत्तर दिया—'यह तो मैं अपने लिये बना रहा हूँ। दूसरोंके लिये बनानेकी क्षमता मुझमें कहाँ?'

आ-राम आ-राम

वैशाख शु०११, शनिवार, सं० २०२४ वि० तदनुसार २० मई १९६७ को गीताभवनकी परम्पराके अनुसार रात्रिके प्रवचनमें कीर्तन हुआ करता है। मंचपर बैठे हुए पहले श्रीईश्वरप्रसादजी गोयन्दकाने कीर्तन कराया। पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी तथा श्रीभाईजी नीचे बैठे हुए थे।

श्रीईश्वरप्रसादजी गोयन्दकाका कीर्तन समाप्त होनेपर, उन्होंने श्रीभाईजीसे प्रार्थना की—'आप मंचपर पधारें।' श्रीभाईजीने स्वामीजीसे कहा—'स्वामीजी। आप भी चलिये। आइये कीर्तन करें।'

स्वामीजीने कहा—'मेरा जानेका विचार है। मुझे तो नींद आ रही है, मैं आराम करना चाहता हूँ।'

भाईजीने स्वामीजीसे निवेदन किया—'केवल आपको ही नींद आ रही है क्या? मुझे भी आ रही है। मैं भी तो आराम करना चाहता हूँ।' ऐसा कहकर स्वामीजीका हाथ पकड़कर मंचपर ले जाने लगे। स्वामीजी उठ गये तथा भाईजीके साथ मंचपर जाने लगे।

मंचपर जाते-जाते भाईजीने स्वामीजीसे विनोद किया—'आप तो यहीं कीर्तन करें, ... आ-राम, आ-राम, आ-राम।'

सभी समीपस्थ लोग मुसकरा पड़े।

नव-वर्षारम्भ

श्रीपरमेश्वरप्रसादजी दीक्षित (जजसाहब श्रीरामप्रसादजी दीक्षितके छोटे भाई) दोपहरको श्रीभाईजीके पास बैठे थे। श्रीभाईजी डाक देख रहे थे। तभी श्रीदीक्षितजीने कहा—'आज तो ३१ दिसम्बर हो गया। कलसे नये वर्षका आरम्भ होगा। नव वर्षकी शुभकामना भेजनी चाहिये।'

श्रीभाईजीने कहा—'आप भेजिये। मैं क्यों भेजूँ? मेरा नया वर्ष थोड़े आया है। मेरा तो नववर्ष अभी देरसे आयेगा। मेरे नव वर्षका आरम्भ विक्रम संवत्‌के प्रथम दिनसे होता है, ईसाई संवत्‌से नहीं।'

वृक्षको जल दें

वै०शु०१३, सोमवार, सं० २०२४ वि० तदनुसार २२ मई, १९६७ को परमपूज्य जगद्‌गुरु शृंगेरी पीठाधिपति स्वामी शंकराचार्यजी महाराज पधारे तथा गीताभवन और परमार्थ-निकेतनकी स्थलीको अपने श्रीचरणोंसे पवित्र किया। परमार्थ-निकेतनमें श्रीशंकराचार्यजीके साथ श्रीभाईजीने देखा उनका नवनिर्माण तथा अधिकाधिक निर्माणकी उत्कण्ठा।

परमार्थ-निकेतनसे लौटते समय श्रीरामदासजी जालान श्रीभाईजीके साथ थे। वे गोरखपुरसे आये थे, गोविन्द भवन ट्रस्टकी मीटिंगमें भाग लेनेके लिये। ट्रस्टके और भी सदस्य आये थे। मीटिंगके समाप्त होनेपर सभी अपने-अपने स्थानको लौट गये। सदस्योंमें कार्यके प्रति उतना उत्साह नहीं। कोई कहता था चूरूका ऋषिकुल बन्द कर दो, कोई कहता था प्रकाशनका काम कम कर दो। श्रीभाईजीका इस प्रकारकी सभी बातोंसे विरोध था। पूज्य श्रीसेठजी जिस वृक्षको खड़ा कर गये, कभी इस शाखाको, कभी उस शाखाको तोड़ने या काटनेकी बात क्यों करें। श्रीभाईजीने कहा—'देखो, एक तो परमार्थ-

निकेतन वाले हैं जिनमें कार्यका उत्साह है और कार्यका विस्तार कर रहे हैं और हम लोग हैं जो कार्यको घटानेकी बात कहते हैं। जो जैसा सोचता है वैसा ही हो जाता है। यदि हमारे चिन्तनकी पद्धति यही रही तो निश्चित ही हमारा ह्रास होगा।' श्रीरामदासजीने श्रीभाईजीकी बातोंका अनुमोदन किया।

बातकी टेक निभाना

एक बार श्रीभाईजी महात्मा गाँधीसे मिलनेके लिये साबरमती आश्रम गये। 'कल्याण'को निकले कुछ (सम्भवतः तीन-चार) वर्ष ही हुए थे। रामनाम महिमापर बात चली। गाँधीजीने कहा—'मैं सदा नामजप किया करता हूँ।' फिर अपनी माला दिखायी जो तकियेके नीचे थी। माला टूटी हुई थी। श्रीभाईजीके पास कुछ अतिरिक्त मालाएँ थीं। श्रीभाईजीने कहा—'बापू! आपकी माला टूटी हुई है। यदि आप स्वीकार करें तो मैं आपको एक नयी माला दे दूँ।' गाँधीजीने विनोद किया—'मुझे माला देकर मेरे गुरु बनना चाहते हो क्या?' श्रीभाईजीने कहा—'गुरु तो आप ही रहेंगे। माला आपकी खण्डित थी, अतः कह दिया।' गाँधीजीने माला ले ली और फिर कहा—'मुझे गुरु माना है न। फिर गुरुदक्षिणा चुकाओ।' श्रीभाईजीने कहा—'मुझे स्वीकार है—कहिये क्या आज्ञा है?' बापूने कहा—'जितना जप प्रतिदिन करते हो सो तो ठीक है। उससे दो माला और अधिक जप प्रतिदिन करो।'

श्रीभाईजीने अपने प्रतिदिनके क्रममें दो माला और जोड़ लीं। वह यह क्रम बराबर निभाते रहे।

परिस्थितिकी विषमतामें कर्मठता

बात उस समयकी है जब भारतको स्वतंत्रता प्राप्ति हो चुकी थी। बाबू श्रीरामसिंहने गीता-प्रचारके उद्देश्यसे लखनऊमें

एक दुर्गा गीता विद्यालयकी स्थापना कर रखी थी। बाबू श्रीरामसिंहजी पहले मन्त्रालयमें आशु-लिपिक(स्टेनो) का कार्य करते थे। आपमें गीताके प्रति बड़ी निष्ठा थी। गीता-रामायण-परीक्षा-समितिमें भी आप सक्रिय सहयोग देते रहे।

उन दिनों श्रीमती सरोजिनी नायडू उत्तरप्रदेशकी राज्यपालिका थीं। गीता विद्यालयके वार्षिकोत्सवमें अध्यक्ष-पदके लिये श्रीमती नायडूको आमन्त्रित किया गया और उन्होंने स्वीकार भी कर लिया, परन्तु बाबू श्रीरामसिंहजीकी नजरमें कोई ऐसा व्यक्ति नहीं आया जिसे बुला सकें, जिसका गीतापर अधिकार हो तथा साथ ही श्रीमती नायडूका उपयुक्त स्वागत कर सके।

बाबू श्रीरामसिंहजीने इसकी चर्चा श्रीपरमेश्वरजी अग्रवाल (मेरठवालों)से की। श्रीपरमेश्वरजीने श्रीभाईजीके नामका सुझाव दिया और तुरन्त जच गया। श्रीभाईजीको बुलानेके लिये गोरखपुर फोन किया गया। पहले तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया, पर जब कई फोन आये तब उन्होंने कहा—'भाई! आप लोग मानेंगे नहीं। फोनपर व्यर्थ खर्चा करते हैं। आप तिथि बता दीजिये। मैं आ जाऊँगा।' फोनपर उनको गीता विद्यालयके वार्षिकोत्सवकी निश्चित तिथि बता दी गयी।

कल उत्सव होनेवाला है और आज गीता विद्यालयके प्रांगणमें तम्बू तान दिया गया है कुर्सियाँ लगा दी गयी हैं। पहले दिन जितनी आवश्यक व्यवस्था होनी चाहिये, कर दी गयी। पर संयोगकी बात। रातके साढ़े दस बजेसे वर्षा आरम्भ हुई और घनघोर वर्षा, वह भी घण्टों। सारी जमीन अत्यधिक भीग गयी। तम्बू लटक गया। कुर्सी-टेबल सभी भीग गये।

गाड़ी गोरखपुरसे लखनऊ सबेरे ६ बजे पहुँचती है, पर किसी कारण गाड़ी लेट हो गयी तीन घंटे। श्रीपरमेश्वरजी श्रीभाईजीको लेनेके लिये स्टेशन गये। श्रीभाईजीके साथ थे पूज्य बाबा (स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज) रामसनेहीजी और

शायद एक नौकर। बाबा आदिको श्रीमोतीलालजी जालानके यहाँ ठहराकर श्रीभाईजी श्रीपरमेश्वरजीके साथ जल्दी-जल्दी श्रीदुर्गा गीता विद्यालय पहुँचे तब साढ़े दस बजा था और उत्सव आरम्भ होनेवाला था ग्यारह बजे। पर पण्डालका हाल ही कुछ और था। वर्षाके कारण उत्पन्न अस्त-व्यस्तता ज्योंकि त्यों थी। तम्बू झुका हुआ पड़ा है, कुर्सियाँ भींगी पड़ी हैं। मंचकी कोई व्यवस्था नहीं, यहाँ तक कि वहाँ पर न बाबू श्रीरामसिंह हैं और न अध्यापक एवं विद्यार्थीगण इस अस्त-व्यस्तताको दूर करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्थितिको देखकर श्रीपरमेश्वरजी एकदम घबड़ा गये। अब क्या होगा? साढ़े दस बज गये, कोई प्रबन्ध नहीं। श्रीमती सरोजिनी नायडू ठीक समयसे पहुँच जायेंगी।

परिस्थितिकी विषमताको श्रीभाईजीने भी भाँप लिया। पर अब न तो किसीको दोष देनका समय था और न हाथ-पर-हाथ रखकर बैठनेका समय था। उन्होंने कहा—'घबड़ानेकी जरूरत नहीं। आओ सब मिलकर काम करें। चन्द मिनटोंमें सारा काम हो जाता है।' वहाँ जितने अध्यापक और विद्यार्थी थे सबको उत्साहित किया। सबको काम बताया, काम स्वयं करने लगे और कराने लगे। बांस पकड़कर तम्बू ताना गया। तम्बूपर पड़ा हुआ पानी गिराया गया। फिर तम्बूकी रस्सियाँ बाँधी गयीं। कुर्सियाँ पोंछी गयीं, टेबुल पोंछे गये। मंचको ठीक किया गया और मंचसे लेकर विद्यालयके प्रवेश द्वार तक पावड़े बिछाये गये। विश्वास ही नहीं होता, यह सारा काम लगभग बीस मिनटमें हो गया। श्रीभाईजीकी सूझ, निर्देशन, श्रम तथा प्रोत्साहनने सारा काम बना दिया। ठीक पाँच मिनट पहले श्रीमती नायडूके स्वागतके लिये श्रीभाईजी, बाबू श्रीरामसिंहजी, भाई परमेश्वरजी तथा अन्य लोग प्रवेश द्वारपर आकर खड़े हो गये। ठीक समयसे श्रीमती सरोजिनी नायडू आयीं तथा उनको

ले जाकर मंचपर बैठाया गया। श्रीमती नायडूने श्रीभाईजीके प्रति काफी सम्मान प्रदर्शित किया।

वार्षिकोत्सवकी कार्यवाही आरम्भ हुई। दो-तीन कार्यक्रमके बाद श्रीभाईजीका गीतापर पन्द्रह मिनट तक भाषण हुआ। भाषण इतना उत्कृष्ट था कि सारे श्रोता विमुग्ध हो गये। स्वयं श्रीमती नायडू प्रभावित हो गयीं। पूर्व योजनानुसार श्रीमती नायडूके बोलनेका कोई कार्यक्रम नहीं था, पर वे भी बोलनेके लिये खड़ी हुईं और गीतापर लगभग १०-१२ मिनट तक बोलीं। श्रीमती नायडूने यहाँ तक कहा कि श्रीपोद्दारजीके भाषणको सुनकर उसी तरहकी प्रसन्नता हुई जिस तरह गांधीजीके आश्रममें गाँधीजीके भाषणको सुनकर हुआ करती है।

वचनका निर्वाह

आज सं० २०२३ वि० माघ शु० १२ मंगलवार (२१-२-६७) का दिन था। गोरखपुरमें आम चुनावकी हलचल है। लोकसभाकी सदस्यताके लिये आदरणीय महन्त श्रीदिग्वजयनाथजी तथा प्रो० शिब्बनलालजी सक्सेनामें गहरा संघर्ष है। चुनावकी इस चर्चाके बीच श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीशिब्बनलालजीका एक पुरातन संस्मरण सुनाया।

बहुत दिनों पहलेकी बात है। तब राधाष्टमीके उत्सवका इतना विस्तृत और विशाल रूप नहीं था। गीतावाटिकाकी कोठीके हालमें ही श्रीराधाजीका जन्मोत्सव मनाया जाता था। राधाष्टमीका दिन था। श्रीभाईजीने बाबासे कहा—'शिब्बनलालजीसे मिलनेके लिये तथा १०-१२ मीलकी दूरीपर स्थित एक गाँवमें अन्न-वस्त्रके वितरणके लिये मुझे जाना है। शिब्बनलालजीको अनशन करते हुए आज लगभग दस दिन हो गये हैं।'

गोरखपुर जिलेमें अकाल पड़ गया था और सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही थी। इसीका विरोध करनेके लिये

श्रीशिब्बनलालजी अनशन कर रहे थे। श्रीशिब्बनलालजी सार्वजनिक निर्माण विभागके डाक बंगलेमें थे। श्रीभाईजी श्रीशिब्बनलालजीसे कह चुके थे कि अकाल पीड़ितोंको अन्न-वस्त्र देनेके बाद आपसे आकर मिलूँगा। श्रीराधा-जन्मका समय समीप था, अतः पूज्य बाबाने कहा—'आज राधाष्टमी है, हालमें जन्मोत्सवका आयोजन है, यदि कोई बाधा नहीं हो तो उत्सवकी सम्पन्नताके बाद चले जाइयेगा।'

श्रीभाईजीने उत्तर दिया—'आपका कहना ठीक है, पर मुझको जाना चाहिये। मैं वचन भी दे चुका हूँ। और भी ऐसी बातें हैं जिनके कारण जाना आवश्यक है। आप हैं ही, यहाँ उत्सव मना लीजिये।'

श्रीकृष्णचन्द्रजी केटिया (एक प्रकारका शुद्ध रेशमी वस्त्र) पहने हुए राधा जन्ममहोत्सवकी तैयारीमें संलग्न थे। पूज्य बाबाने कहा—'अपना केटिया उतारकर सूती कपड़े पहन लो और श्रीभाईजीके साथ जाओ।'

श्रीभाईजी अकाल पीड़ित क्षेत्रमें गये। जनताके रूपमें विराजित भगवान्‌की अन्न-वस्त्रसे सेवा की। वहाँसे लौटकर डाक-बंगलेमें श्रीशिब्बनलालजीसे मिले। गीतावाटिकामें उधर श्रीराधाजीका प्राकट्य हुआ और लगभग उसी समय डाक-बंगलेमें इधर श्रीभाईजी श्रीशिब्बनलालजीसे गले-से-गले मिल रहे हैं। इन दोनों प्रसंगोंका समय लगभग एक ही था। स्नेहसे आप्यायित होकर श्रीशिब्बनलालजीने श्रीभाईजीसे पूछा—'आपके अलावा और कौन है जो मुझसे मिलनेके लिये आवे।' श्रीशिब्बनलालजीका गला भर आया और कण्ठ अवरुद्ध हो गया।

एक बार गीताप्रेसमें श्रमिकोंने हड़ताल कर दी। श्रमिक नेताओंकी ऐसी कल्पना थी कि श्रीशिब्बनलालजीके सहयोगसे यह हड़ताल और भी जोर पकड़ लेगी। श्रीशिब्बनलालजी

शहरमें थे नहीं। कहीं बाहर गये हुए थे। उनके बाहरसे आनेपर श्रमिक नेताओंने उनसे नेतृत्वके लिये अनुरोध किया। श्रीशिब्बनलालजीने स्पष्ट और जोरदार शब्दोंमें कहा—'मैं इस हड़तालमें सहयोग नहीं दूँगा। मैं राजनीतिक पार्टीसे इस्तीफा दे सकता हूँ, किन्तु पोद्दारजीके खिलाफ एक शब्द नहीं बोल सकता। मुझे उनकी नेक-नीयतीपर पूर्ण विश्वास है।'

श्रीभाईजीकी सिद्धान्तवादिता

संवत् २०२४ वि० पौष कृ०११ मंगलवार, २८ नवम्बर १९६७ को गीतावाटिका, गोरखपुरमें प्रवचन देते हुए श्रीभाईजीने अपना एक पुरातन संस्मरण सुनाया कि किस प्रकार लोग श्रीभाईजीकी सिद्धान्तनिष्ठाके कारण श्रीभाईजीसे किनारा कर लेते थे। घटना सन् १९२० और १९२४ के बीचकी है।

श्रीभाईजीने खद्दरके वस्त्रोंका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। आजकल तो बढ़िया-से-बढ़िया और महीन-से-महीन खादी प्राप्त हो जाती है जिसके सामने मिलके कपड़े भी मात खाते हैं, परन्तु उन दिनोंकी खादी टाटके बराबर होती थी। खादीके वस्त्रोंका प्रयोग करना भी एक अत्यधिक साहस और सिद्धान्तनिष्ठाकी बात थी।

श्रीभाईजीका समाजमें सम्मान तो था ही। एक घनिष्ठ परिचित व्यक्तिने श्रीभाईजीसे कहा—'भाईजी! आज सूरदासका अभिनय प्रस्तुत किया जायगा। आप देखने चलेंगे क्या?' श्रीभाईजीने अपनी स्वीकृति दे दी।

उन महाशयने कहा—'भाईजी! अभिनय आठ बजे प्रारम्भ होगा। मैं आपके पास सात बजेके लगभग आ जाऊँगा। आप मेरे साथ मेरी गाड़ीमें बैठकर चले चलियेगा।'

शामको श्रीभाईजी उनकी प्रतीक्षा करने लगे। परन्तु वह आये नहीं। अधिक समय निकलता देखकर श्रीभाईजी एक-

दो और साथियोंको साथ लेकर अभिनय देखनेके लिये चले गये। वहींपर उनकी उन महोदयसे भी भेंट हो गयी। श्रीभाईजीने उनसे पूछा—'भैया! मैं तो तुम्हारी राह देख रहा था। तुम सात बजे कैसे नहीं आये?'

वे महोदय बड़े सरल हृदयके थे। उन्होंने मनकी सच्ची बातका निवेदन करते हुए कहा—'यदि आप क्षमा कर दें तो आपको सच-सच बता दूँ।'

श्रीभाईजीने कहा—'क्षमाकी क्या बात है। अवश्य बताओ।'

श्रीभाईजीसे आश्वस्त होकर उन महोदयने बताया—'भाईजी! आप तो सिद्धान्त-प्रेमी हैं और आप बहुत मोटी खादीका प्रयोग करते हैं। आप मेरे बगलमें बैठेंगे तो लोग क्या कहेंगे। आपकी मोटी खादीकी बातको चलाकर मेरी भद्द उड़ा सकते हैं। इसी संकोचसे मैं आपको लेनेके लिये नहीं आया।'

उनकी सत्यवादिताको देखकर श्रीभाईजी बहुत प्रसन्न हुए। साथ ही खादीके प्रति उनकी निष्ठा और भी सुदृढ़ हो गयी कि समाज भले ही स्वीकार या सत्कार न करे, अपनेको वही करना है जो उचित है।

समयकी पाबन्दी

सं० २०२४ वि० माघ शु० १२ रविवार (११ फरवरी १९६८) के
दिन श्रीभाईजीको भारतीय जनसंघके अध्यक्ष श्रीदीनदयालजी उपाध्यायके निधनका समाचार मिला। श्रीउपाध्यायजीका निधन मुगलसराय स्टेशनके पास हुआ। शव पुलिसके पास है और मृत्युका कारण अज्ञात है। इस समाचारको पाते ही श्रीभाईजीको बड़ी मार्मिक पीड़ा हुई।

शामको साढ़े पाँच बजे गोरखपुरके टाउनहालमें शोक सभा थी। जनसंघके स्थानीय कार्यकर्ता श्रीमल्होत्राजीने श्रीभाईजीसे

भी आनेके लिये अनुरोध किया। श्रीभाईजीने उस अनुरोधको तुरन्त स्वीकार कर लिया और कहा—'मुझको तो आना ही चाहिये। वे तो मेरे बड़े आत्मीय स्वजन थे। हम दोनोंका बड़ा स्नेह था।'

आज दोपहरमें ही मृत्यु हुई थी और अपराह्नकालमें यह समाचार रेडियोसे प्रसारित किया गया था। थोड़ी ही देर बाद इस शोक-सभाका आयोजन कर लिया गया था। श्रीभाईजी घरसे पाँच बजे चल दिये। कारमें श्रीराधेश्यामजी बंकाने श्रीभाईजीसे कहा—'आप जल्दी चल रहे हैं।'

श्रीभाईजीने कहा—'जल्दी कैसे चल रहे हैं? उन्होंने कहा था कि साढ़े पाँच बजेसे सभा है।'

श्रीबंकाजी—'वह तो ठीक है, पर सभाकी कार्यवाही साढ़े पाँच बजेसे आरंभ नहीं हो पायेगी। अभी तो अच्छी प्रकारसे प्रचार भी नहीं हो पाया है।'

श्रीभाईजीने कहा—'इससे क्या? अपनेको तो समयपर पहुँचना है।'

कुछ देर रुककर कहा—'यही तो खराबी है। सभी यदि यह सोचने लगें कि सभाकी कार्यवाही साढ़े पाँच बजे आरम्भ नहीं होगी, अतः देरसे चलना चाहिये तो फिर तो अवश्य ही देर होगी। सोचना यह चाहिये कि कार्यवाही आरम्भ हो या न हो, अपनेको ठीक समयपर पहुँच जाना है।'

श्रीभाईजी वहाँपर समयसे पहुँच गये। संयोगकी बात, श्रीबंकाजीका अनुमान गलत निकला। शोक-सभाकी कार्यवाही साढ़े पाँच बजे आरम्भ हो गयी। निश्चित समयपर पहुँचनेका निश्चय रहनेसे श्रीभाईजी कुछ मिनट पहले ही पहुँच गये थे।

संन्यासी वेषको प्रणाम

वैशाख शु० ७, मंगलवार, सं० २०२४ वि०, १६ मई,

१९६७

की शामको स्वर्गाश्रममें गंगाकिनारे टहलकर श्रीभाईजी आये। अपने निवास-स्थानके बरामदेमें बैठकर स्वामी श्रीसदानन्दजीकी प्रतीक्षा करने लगे। स्वामी सदानन्दजी, परमार्थ निकेतनके संस्थापक स्वामी श्रीशुकदेवानन्दजीके शिष्य हैं तथा 'परमार्थ' पत्रिकाके सम्पादक हैं। स्वामी श्रीसदानन्दजी अपने पूर्वाश्रमके पहले 'कल्याण' कार्यालयमें कार्य करते थे। अब परमार्थ निकेतनके प्रधान प्रबन्धकोंमेंसे एक आप भी हैं। निर्धारित समयसे जब अधिक समय होने लगा तो श्रीभाईजी एक प्रकारसे निराश होने लगे। श्रीभाईजी उठने ही वाले थे कि स्वामी सदानन्दजी आ गये। श्रीभाईजीने उठकर स्वागत किया तथा भूमिपर माथा रखकर प्रणाम किया। श्रीस्वामीजी पहले ही झुककर प्रणाम कर रहे थे।

स्वामीजीने मस्तक उठाकर देखा कि श्रीभाईजी भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम कर रहे हैं, वे संकोचमें पड़ गये। पड़ना स्वाभाविक था। जिनके नीचे, जिनके कार्यालयमें कार्य किया वे ही प्रणाम करें, कोई भी संत हृदय इसे कैसे देख सकता है? श्रीस्वामीजीने कहा—'भाईजी! आप ठीक नहीं करते।'

श्रीभाईजीने पूछा—'क्या ठीक नहीं किया?'

श्रीस्वामीजीने संकोचमें दबते हुए कहा—'क्या बच्चेको प्रणाम करना उचित है?' श्रीस्वामीजीका निवेदन सही था।

श्रीभाईजीने कहा—'आप एकदम ठीक कहते हैं। आप मेरे लिये बच्चे ही हैं, पर मैंने बच्चेको प्रणाम नहीं किया है। मैंने तो गेरुए वस्त्रको प्रणाम किया है। यह भी हमारी एक मर्यादा है।'

श्रीराधेश्याम बंका

****

अपना दोष बतलानेवालेका उपकृत होना

आप डाक्टर साहबको नहीं जानते भाईजी? भारतके राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीके जीवन-कालमें उनके चरित्रपर लांछन लगाते हुए एक व्यक्तिने पोद्दारजीसे कहा— 'उन्होंने एक ....'

'एक डिठौना रहना चाहिये—बीचहीमें उनकी बात काटकर पोद्दारजीने तुरंत उत्तर दिया—'नहीं तो उनमें इतने सद्‌गुण हैं कि कहीं नजर न लग जाय।'

परदोष-दर्शन तो दूर, किसीकी निन्दा भी सह लेना आपके वशकी बात नहीं। किन्तु अपना दोष बतानेवालेका उपकृत होना, उसका आभार स्वीकार करना इनका सहज गुण ही नहीं, स्वभाव भी है। बहुत वर्ष पूर्व आपको अपने एक मित्रके द्वारा सूचना मिली कि किसीने एक पुस्तकमें इनकी कुछ आलोचना की है। आपने उक्त मित्रको तुरन्त लिखा—

'आपके कथनानुसार पुस्तकमें यदि मुझपर कटाक्ष किये गये हैं तो इसमें आपत्तिकी कौन-सी बात है? यदि आलोचकने कोई सच्चा दोष दिखलाया होगा तो वह मुझपर उसका उपकार ही मानना चाहिये। ....यदि उसने कहीं अनुचित और मिथ्या आक्षेप किया हो तो बेचारा भ्रममें है। परमात्मा उसकी भ्रम-भरी बुद्धिको शुद्ध करें।'

श्रीशिवनाथ दुबे

प्रणामके गुण

पू०श्रीभाईजीका सर्वप्रथम दर्शन मुझे तब हुआ जब मेरी उम्र मात्र ७-८ वर्षकी थी। उन दिनों 'कल्याण' के सम्पादकीय-विभागमें श्रीलक्ष्मणनारायण गर्दे, श्रीभुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव', श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी, श्रीदेवधर शर्मा और मेरे पिताजी श्रीशान्तनुबिहारी द्विवेदी काम करते थे। श्रीभाईजीके समीप

पहुँचकर चरण छूकर प्रणाम करना मुझे सिखाया गया था। तदनुसार उनके चरणोंतक पहुँचकर जैसे ही मैंने प्रणाम किया, भाईजीने मुझे अपने पास खींचकर बैठा लिया और अपने अमूल्य समयमें भी बहुत लाड़-प्यार पूर्वक घर-बाहरकी बातें करने लगे। मैं कई दिनों तक उनके घर ही रहा। वहाँके स्नेहकी स्मृतियाँ आज भी चित्त-पटलपर एक-एक कर अंकित हो रही हैं।

सन् १९४२ में 'महाभारतांक' का काम पूरा होते-होते पिताजीने संन्यास ले लिया। उस समय मैं भाईजीकी जन्मभूमि रतनगढ़के निकट चूरूके 'ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम' में अध्ययन कर रहा था। जब मुझे संन्यासकी सूचना मिली तो आश्रममें मैं कई दिनों तक दुःखी रहा और रोया भी। उस समय श्रीभाईजीने मुझे रतनगढ़ बुलवा लिया और विश्वास, आश्वासन और स्नेहकी वह वर्षा की, जिसे आज भी यादकर हृदय गद्गद हो उठता है।

सन् ४६ में ऋषिकुलका स्नातक होकर अपने गाँव 'महराई' आ गया। घर आनेके पश्चात् विवाह पर्यन्त भाईजीसे मैं मिल न सका। विवाह-कालमें ही भाईजीका एक कार्ड आया—'प्रिय विश्वम्भर, शुभाशीष। ... तुम्हारा हनुमानप्रसाद पोद्दार।' यह कार्ड मेरे एक अविभावकके हाथ लगा। उस पत्रमें अंकित 'आशीष' और 'तुम्हारा' जैसे शब्दों पर उन्होंने बड़ी आपत्ति उठायी और आग-बबूला हो गये। लगे वहाँ अपनी भड़ांस निकालने—'देखा, यह देशके बड़े विद्वान् 'कल्याण'के सम्पादकका पत्र है। इतना तो ध्यान होना चाहिये कि पत्र लिख रहे हैं एक ब्राह्मणको।' भाईजी और अपने सम्बन्ध एवं भावकी बात उन्हें समझानेमें मैं विफल हो गया। वे अन्ततक झल्लाते ही रहे।

संयोगसे उन्हीं अविभावक महोदयके साथ कुछ दिनों

बाद मैं गोरखपुर गया। भाईजीसे मिला। अपने पहले संस्कारके अनुसार ही मैंने उन्हें प्रणाम किया। बस, भाईजीने मेरा हाथ पकड़ लिया, स्वयं हाथ जोड़ लिये। बोले—अच्छा, विश्वम्भर आ गये। अब तुम छोटे बच्चे नहीं, बड़े हो गये। ब्राह्मण हो, पूज्य हो। तुम पैर छूकर प्रणाम करो, यह नहीं चलेगा। अब तो मेरा ही तुम्हें प्रणाम करना कर्त्तव्य है। प्रसन्न हो न? घरमें सब लोग स्वस्थ प्रसन्न हैं न? पूछते हुए भाईजीने प्रणामके गौरवमें एक छोटा-सा प्रवचन ही दे डाला।

'देखो, इस प्रणाममें बहुत-से गुण हैं। क्यों पण्डितजी?'—हमारे अभिभावककी ओर संकेत करते हुए बोले (मानो उनकी झुँझलाहटका ही उत्तर दे रहे हों)—युद्धभूमिमें कौरव-पाण्डवोंकी सेनायें डटी थीं। संघर्षके लिये शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित योद्धा रक्तपिपासु हो एक दूसरेपर टूट पड़ना चाहते थे। उसी समय एकाएक युधिष्ठिर रथसे उतर पड़ते हैं। धनुष, बाण और कवच रथमें ही रख कर पैदल ही कौरववाहिनीकी ओर बढ़ने लगते हैं। अर्जुन हतप्रभ हो जाता है। भीम ललकारता है—'यह क्या होने जा रहा है?' नकुल-सहदेव सशंकित होते हैं—'क्या यह आत्म-समर्पणका समय है?' किन्तु युधिष्ठिर निर्द्वन्द्व-निर्भय हो सैनिकोंकी कतार चीरते पहुँच जाते हैं पितामह भीष्मके समीप और चरणोंकी धूलि सिरपर धारण करते हैं।

'विजयी हो, युधिष्ठिर—पितामह आशीर्वाद देते हैं। 'यह कैसे संभव है पितामह। जब आप-जैसे महान् सेनापति हमारे विरुद्ध युद्धके लिये सन्नद्ध हों?''—धर्मराजने अत्यन्त विस्मय-मिश्रित जिज्ञासा प्रस्तुत की। 'अब यह असम्भव भी सम्भव हो गया वत्स। क्योंकि मैंने तुम्हें आशीर्वाद जो दे दिया है। इस स्थितिमें भी तुम्हारे प्रणामका यह परिणाम है। अन्यथा मैं तुम्हें शाप देता और तब? हम जैसे दुर्धर्ष वीरोंसे पार पाना निश्चय ही तुम लोगोंके लिये टेढ़ी खीर थी।'

इसी प्रकार आचार्य द्रोण और कृपाचार्य तथा मामा शल्यसे भी महाराज युधिष्ठिरने प्रणाम करके विजयके वरदानरूप वह अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की जो अन्ततः अजेय सिद्ध हुई।

महाभारतके विज्ञ पाठकोंको सुविदित है कि अर्जुन द्वारा प्रेरित शिखण्डी ही पितामहकी मृत्युका निमित्त बना, कृपाचार्यने विरति ले ली, द्रोणाचार्यको अश्वत्थामाकी मृत्युकी भ्रान्त कल्पना पर शस्त्रसंन्यास लेना पड़ा और कर्ण शल्य द्वारा अनुत्साहित हो गया।

आखिर इन महारथियोंकी सहज मृत्युका रहस्य-भेदन किया किसने? कहना होगा, केवल एकमात्र युधिष्ठिरके प्रणामने। अतः यह प्रणाम जीवमात्रके उत्कर्षके लिये अमोघ शस्त्र है। महाराज मनु कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो
ब ल म ् ॥

भाईजीने इस प्रवचनमें वर्णित तथ्यका अपने पूरे जीवनमें अनुसरण किया। इसी कारण आज वे 'अजातशत्रु' का अभिनव संस्करण बन गये। विज्ञजन जानते हैं कि नमस्कार-क्रियाका अर्थ यह जतलाना है कि मैं आपसे छोटा हूँ—त्वत्तोऽहमकृष्ट इति बोधनानुकूलः करयोः शिरःसंयोगपूर्वकः शिरोनमनानुरूपो व्यापारः। सारा झमेला-झगड़ा अभिमानसे ही होता है और नमस्कार ठीक उसीपर निर्णायक चोट पहुँचाता है। तब क्यों न कोई समझदार, सहृदय नमस्कार करनेवालेके वश हो जाय?

इसपर भी किसीका अहम् ऐसा करनेसे बरबस रोकता है, तो तुलसीबाबाने दूसरा शस्त्र बताया है, जो यह उपाय सहज ही साध लेता है। वे कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदी

******

विशूचिका (हैजा) रोगीकी सेवा

आधुनिक युगमें 'स्व' की परिधि क्रमशः लघु, लघुतर, लघुत्तम होती चली जा रही है। प्रायः मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रियाके सम्पादनके पूर्व ही कुशल व्यापारीकी भाँति उसके द्वारा लौकिक लाभ-हानिको तौल लेता है। दूसरेको सेवाका उपदेश सभी देते हैं, पर स्वयंको सेवासे अछूता रखते हैं; मानो वह छूतका रोग हो। इसीसे निस्स्वार्थ, निष्कपट, निष्काम व्यवहार या सेवा लुप्त-सी होती चली जा रही है। पर कहीं-कहीं इसके अन्दर आदर्श आज भी उपलब्ध होते हैं।

घटना पुरानी है। गीता-भवन, स्वर्गाश्रमका सत्संगमण्डप श्रोताओंसे भरा हुआ था। ओजस्वी वक्ता थे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार पर्याप्त जनता होनेपर भी उनके प्रवचनमें गम्भीर शान्ति चारों ओर विद्यमान थी। प्रवचन समाप्त होनेपर एक आवश्यक सूचना, जिसमें सेवा अपेक्षित थी, एक सत्संगी भाईकी ओरसे वक्ता द्वारा सुनायी गयी—

'राजस्थानसे एक सम्भ्रान्त, किन्तु अभावग्रस्त ब्राह्मण देवता आये हुए हैं। अचानक भयानक हैजा हो जानेके कारण उनकी स्थिति चिंताजनक हो गयी है। इस अशक्त अवस्थामें उन्हें सेवाकी आवश्यकता है। कृपया उत्साही पुरुष अपना नाम लिखवायें; रात्रिभरकी सेवाके लिये चार व्यक्तियोंके नाम चाहिये।'

प्रथम बार सूचना पढ़े जानेपर केवल दो उत्साही भाइयोंने अपना नाम लिखवाया। वक्ता द्वारा सूचना दोहरायी गयी, इस बार भी संकोचवश एक व्यक्तिने अपना नाम और लिखवा दिया। सूचना प्रसारित करनेवाले व्यक्तिने धीरे-से

श्रीभाईजीसे कहा—‘केवल एक नाम और चाहिये; कृपया एक बार पुनः सूचना दोहरा दें।’

‘इसकी आवश्यकता नहीं—इतना कहकर श्रीभाईजी अपने स्थानसे उठ खड़े हुए। सूचना प्रसारित करनेवाला भी उलझनमें फँस गया—तीन व्यक्यिोंसे कैसे रात्रिभर काम चलेगा—दो व्यक्तियोंके बिना वमन और मलसे सने कपड़े कैसे बदले जायेंगे और एक आदमी द्वारा आठ घंटे एक साथ सेवा कर पाना संभव भी नहीं; पर उस भव्य व्यक्तित्वके सम्मुख पुनः कहे भी तो कैसे।’

गीता-भवनसे बाहर निकलनेपर श्रीभाईजीने साथ चलते जन-समूहपर दृष्टिपात करते हुए सूचना प्रसारित करवानेवाले बन्धुसे कहा—‘एक व्यक्ति सेवाके लिये जिस स्थानपर जितने बजे कहिये, पहुँच जायगा।’

‘रात्रिमें ठीक दस बजे स्वर्गाश्रममें बने मन्दिरके पिछवाड़े स्थित झोपड़ीमें पहुँच जाय। दो बजेतक उनको रहना होगा, उसके बाद दूसरा गुट आ जायगा।’ ‘अच्छा’—छोटा-सा उत्तर दे श्रीभाईजी आगे बढ़ गये।

रातके दस बजनेवाले थे। माँ भागीरथीके अंकमें चन्द्रमा शिशुवत मचल-मचलकर खेल रहा था। उसी समय श्रीभाईजीने धीरेसे झोंपड़ीका दरवाजा खोलते हुए भीतर प्रवेश किया।

‘आ .... प...... आप.......’ विचित्र विस्मयकी अनुभूति कर सूचना प्रसारित करवानेवाले बन्धुने कहा—‘आप रहने दीजिये; हमलोग सब संभाल लेंगे।’

‘क्यों? क्या मैं सेवा नहीं कर सकता?’

‘नहीं, यह बात नहीं—इनके कपड़े वमन तथा मलसे बार-बार सन जाते हैं, उनको साफ करना पड़ता है, फिर कपड़े बदलने पड़ते हैं।’

‘तो क्या हुआ?’ सहज, स्वाभाविक स्वरमें उत्तर दिया

श्रीभाईजीने।

'नहीं ...... बड़ी भयानक दुर्गन्ध होती है, इसीसे कह रहा हूँ।'—ये शब्द श्रीभाईजीके कानमें कहनेका प्रयास किया उन्होंने।

'मल-ही-मल तो भरा है इस शरीरमें; दुर्गन्ध नहीं तो सुगन्ध कहाँसे आयेगी।' फीकी हँसीके साथ श्रीभाईजीने कहा।

श्रीभाईजी द्वारा बिना किसी हिचकके सेवा चलती रही—मलसे सने कपड़ोंको बदलना, वमन साफ करना, दवा देना, कुल्ला कराना, जल पिलाना। घृणाकी तो बात क्या, वह तो प्रभुकी अर्चना समझकर की जा रही थी बड़ी ही लगनसे, प्यारसे, स्नेहसे। भाईजीका परिधिहीन 'स्व' की मान्यतामें रुग्ण भाई कोई दूसरा नहीं, अपना था—अपने-से-अपना था, अपना स्वरूप था।

सूचना प्रसारित करवानेवाला विस्मयके साथ सब देख रहा था। वह मुग्ध था कि श्रीभाईजी केवल सेवाका उपदेश देनेमें ही पटु नहीं हैं, सेवा करनेमें वे उससे भी अधिक दक्ष हैं, निपुण हैं।

श्रीभाईजी जैसे संतके स्पर्शसे, उनकी ममताभरी सेवासे उनकी महिमामयी उपस्थितिसे रोगीको भी बड़ी शान्तिका अनुभव हुआ। श्रीभाईजीकी पारीका समय पूरा होते-होते उसकी स्थितिमें पर्याप्त सुधार हो गया और जब श्रीभाईजी वहाँसे लौटने लगे, उसने सजल नेत्रोंसे श्रीभाईजीका भाव-अभिनन्दन किया।

स्वतंत्रता सेनानी और श्रीभाईजी

गीतावाटिका (गोरखपुर) में सन् १९३६ में जब एक वर्षका अखण्ड श्रीहरिनाम-संकीर्तन चल रहा था उन दिनों की बात है कि एक बार पं० जवाहरलाल नेहरूको बरहज जाना

था। वहाँ एक सार्वजनिक सभाका आयोजन था जिसमें उनका भाषण होनेवाला था, पर दुर्भाग्यसे बरहज जानेवाली रेलगाड़ी छूट चुकी थी। अतः वहाँ जानेका केवल एक ही साधन शेष रह गया था कि सभाके निश्चित समयपर पहुँचनेके लिये किराये या मँगनीकी कारसे जाया जाय। बाबा श्रीराघवदासजीने बहुत प्रयत्न किया पर न तो कहींसे किरायेपर मोटर मिल सकी और न ही किसीने नेहरूजीके लिये अपनी मोटर दी। जो भी उनके लिये मोटर देता वही अंग्रेज सरकारका कोप-भाजन बनता।

हार-थककर बाबा राघवदासजी, श्रीभाईजीके पास गीतावाटिका आये और सारी स्थितिका निवेदन कर अन्तमें बड़े ही संकोचसे कहा—'हमारी इज्जतका सवाल है, हमें बरहज जाना बहुत जरूरी है, पर कहींसे भी मोटर नहीं मिल रही है। आपसे विनम्र प्रार्थना है कि आप मोटरकी व्यवस्था करा दें।' श्रीभाईजीका सदासे ही यह आदर्श रहा कि उन्हें चाहे बड़ी-से-बड़ी हानि क्यों न उठानी पड़े, दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये वे सदैव तत्पर रहा करते थे। उन्होंने तुरन्त अपनी मोटर दे दी जिसे लेकर बाबा राघवदासजी चले गये।

लोगोंने पीछेसे कहा—'कार देकर आप व्यर्थका संकट मोल ले रहे हैं। सरकार आपसे जवाब-तलब कर सकती है।' बड़े ही शान्त चित्त, स्थिर मन और स्मित हास्यसे श्रीभाईजीने उत्तर दिया—'द्वारपर आये अतिथिका स्वागत करना मेरा कर्त्तव्य है। क्या शादी-विवाहके अवसरपर मोटर मँगनी नहीं दी जाती है? फिर यह कार्य तो बड़ा महान् है।'

पण्डित नेहरू उपयुक्त अवसरपर बरहज पहुँच गये। लौटते हुए वे गीतावाटिकामें आये और श्रीभाईजीके यहाँ चाय पी।

रात्रिको श्रीरामप्रसादजी अवस्थी, सी०आई०डी० इंस्पेक्टर, श्रीभाईजीके पास आये और उन्होंने विनोदमें श्रीभाईजीसे

कहा—'भाईजी आपका नाम डायरीमें नोट हो गया है कि आपने राष्ट्रीय नेताओंको अपनी मोटर दी।' श्रीभाईजीने मुस्कराकर उनकी बातका समर्थन किया।

डा० सम्पूर्णानन्दजी, श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत आदिसे भाईजीकी बड़ी आत्मीयता थी। वे जब भी उधरसे गुजरते थे, बराबर भाईजीसे मिला करते थे। उन दिनों गोरखपुरमें मिस्टर रोज नामक कलक्टर बड़े ही कठोर माने जाते थे। लेकिन किसीने भी न तो कभी श्रीभाईजीसे कोई पूछ-ताछ की और न उन्हें तंग ही किया। अंग्रेज सरकार जानती थी कि श्रीभाईजीका कार्यक्षेत्र अध्यात्म है, राजनीतिज्ञोंसे सम्पर्क होनेके बावजूद भी राजनीतिसे उनका कोई ताल्लुक नहीं है और न वे राजनीतिक गतिविधियोंमें कभी भाग ही लेते हैं—ऐसा उनको विश्वास था।

उक्त घटनाके बहुत दिनों बाद श्रीभाईजीको पण्डित नेहरूका पत्र मिला जिसमें गीतावाटिकामें चाय पीनेका विवरण लिखा था।

प्रणामका विलक्षण प्रभाव

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुः प्रज्ञा यशो बलम्॥ (मनु० २-१२१)

'जो नित्य अपने गुरुजनों एवं वृद्ध व्यक्तियोंकी सेवामें तत्पर रहता है तथा उनको प्रणाम करता है, उसकी चार वस्तुओंकी वृद्धि होती है—आयु, बुद्धि, यश तथा बल।'

शास्त्रके इस वचनका श्रीभाईजीके जीवनमें बहुत ऊँचा स्थान है। वे अपनेसे बड़ोंको पैर छूकर प्रणाम करते थे; साधु-संतों एवं पण्डितोंको भी चरण-स्पर्श करके प्रणाम करते थे। उन्हें अपने घरमें रसोई बनानेवाले ब्राह्मणको भी पैर छूकर प्रणाम करते देखा गया है। पिता-पितामहके श्राद्धामें ब्राह्मण-

भोजन होनेपर वे दक्षिणा देते समय पण्डितोंको चरण छूकर प्रणाम करते थे। अपने साथ कार्य करनेवाले तथा अपनेसे बहुत छोटी आयुवाले पण्डितोंको जब श्रीभाईजी प्रणाम करते थे, तब युवा पण्डित संकोचके मारे गड़ जाते थे; पर श्रीभाईजी आदर्शका निर्वाह अवश्य करते थे।

प्रायः अपना प्रवचन आरम्भ करनेके पूर्व वे उपस्थित श्रोताओंको यह कहते हुए—'विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌के नाते आप सबके श्रीचरणोंमें सभक्ति नमस्कार'—प्रणाम करते थे।

श्रीभाईजी अपनी लाचारीकी अवस्थामें भी यथासम्भव अपने इस स्वभावका निर्वाह करते रहे। अन्तिम बीमारीके दिनोंमें गोरखपुर स्थित पूर्वोत्तर रेलवेके केन्द्रीय अस्पतालके सर्जरी विभागके डी०एम०ओ० श्रीशर्माजी विशुद्ध प्यारके नाते श्रीभाईजीको देखने आते थे। एक दिन श्रीभाईजीका दर्शन करने, उन्हें प्रणाम करनेके लिये उनकी वयोवृद्ध माताजी उनके साथ आयीं। डाक्टर साहबने कमरेमें प्रवेश करते ही हाथ जोड़कर श्रीभाईजीको प्रणाम किया। श्रीभाईजीने उनके प्रणामका उत्तर 'प्रणाम' कहकर दिया। जब डाक्टर साहबकी वृद्धा माताजी श्रीभाईजीको प्रणाम करने लगीं, तब भाईजी बड़ी ही विनम्रतासे बोले—'माताजी! आप तो मेरी माँ हैं। मैं आपको प्रणाम करूँगा, आपका आशीर्वाद लूँगा।' माताजी श्रीभाईजीकी इस विनय भरी भावनासे मुग्ध हो गयीं और वे प्रणाम न करके आगे बढ़ गयीं श्रीभाईजीका प्रणाम स्वीकार करने। श्रीभाईजीने चारपाईसे झुककर माताजीका चरण-स्पर्श करके उन्हें प्रणाम किया। माताजी वृद्ध हैं, पर वे आयुमें श्रीभाईजीसे छोटी हैं तथा वे श्रीभाईजीके प्रति श्रद्धा रखती हैं और उसी भावसे वे श्रीभाईजीको प्रणाम करने पधारी थीं; पर स्वजनकी माँ अपनी माँ है और माँ सदा प्रणम्य है—इस आदर्शका निर्वाह श्रीभाईजी

कैसे न करते। डाक्टर साहब तथा उपस्थित सभी व्यक्ति श्रीभाईजीके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये कि इतने बड़े होकर भी ये माताजीका चरण स्पर्शकर उन्हें प्रणाम करते हैं और वह भी अपनी लाचारीकी अवस्थामें। लेटे-लेटे हाथ जोड़कर प्रणाम कर लेना ही पर्याप्त था, पर श्रीभाईजीने चारपाईसे झुककर प्रणाम करनेमें ही संतोष अनुभव किया।

श्रीभाईजीको अनुभव हो गया कि उनके इस प्रकार विवशताकी स्थितिमें चारपाईसे झुककर प्रणाम करनेसे डाक्टर साहब तथा अन्य व्यक्तियोंका हृदय भर आता है। अतएव वे अपने इस व्यवहारका औचित्य बताते हुए बोले—'गुरुजनोंको प्रणाम करना हमारी संस्कृतिका प्रधान तत्व है। 'प्रणाम' की क्रियाने महाभारत युद्धके परिणामको बदल दिया। कथा इस प्रकार है—कुरुक्षेत्रका युद्धस्थल है। कौरव पाण्डवोंकी सेना युद्धके लिये प्रस्तुत है। युद्ध आरम्भका संकेत प्राप्त करते ही अस्त्र-शस्त्र चलानेको सब उद्यत हैं। ऐसे गम्भीर समयमें युधिष्ठिर अपना कवच तथा अस्त्र-शस्त्र उतारकर रख देते हैं और नंगे पाँव कौरवोंकी सेनाकी ओर प्रस्थान करते हैं। वे अपने हाथोंसे भाइयोंको संकेत करते हैं कि 'तुमलोग भी ऐसे ही मेरे साथ हो जाओ।' दोनों ओर सन्नाटा छा जाता है; सब हतप्रभ हो जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। क्या युधिष्ठिर युद्धसे भयभीत होकर क्षमा-याचना करनेके लिये आगे बढ़े हैं? पर सब देख रहे हैं कि दोनों सेनाओंको चीरते हुए युधिष्ठिर भीष्मपितामहके सम्मुख पहुँच जाते हैं। भीष्मपितामह उस युद्धके प्रधान थे। युधिष्ठिरने दादाजीके चरणोंपर अपना मस्तक टेककर कहा—'दादाजी! मैं युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित आपको प्रणाम करता हूँ।' भीष्मपितामहने कहा—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' युधिष्ठिर पूछते हैं—'दादाजी! आपके रहते हमारी जय कैसे होगी?' भीष्मपितामहने कहा—'बेटा! तुम आ गये,

इसलिये तुम्हारी जय होगी। यदि नहीं आते तो मैं तुम्हें शाप दे देता और तुम्हारी हार हो जाती। बेटा! तुम ठीक कहते हो—जबतक मैं लड़ता रहूँगा, तबतक मुझपर विजय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। मैं बेइमानी भी नहीं करूँगा कि अपने पूरे कौशलका प्रयोग न करूँ। फिर भी तुम्हारी जीत होगी। युद्धमें जब मुझे कोई पराजित न कर सके, तब तुम मेरे पास आना। मैं अपने पराजित होनेका उपाय तुम्हें बता दूँगा।'

यही हुआ। युधिष्ठिर भीष्मपितामहसे उनके पराजित होनेका उपाय पूछने गये और उन्होंने स्पष्ट बता दिया—'शिखण्डी जन्मके समय स्त्री था, पीछे इसका लिंग परिवर्तन हो गया। स्त्रीपर शस्त्र नहीं चलाया जाता—यह आर्य-मर्यादा है। अतएव इसे आगे रखकर अर्जुन युद्ध करे तो मैं पराजित हो जाऊँगा। कारण, मैं अस्त्र-शस्त्रका प्रहार बंद कर दूँगा।' वैसे ही किया गया और भीष्मपितामह जैसे अजेय महारथी पराजित हो गये।

इसके पश्चात् युधिष्ठिर गुरु द्रोणाचार्यके पास पहुँचे। गुरु द्रोणाचार्य युद्धकालके आचार्य थे और कौरव-पाण्डवोंको युद्धकलाकी शिक्षा आपने ही दी थी। गुरु द्रोणाचार्यके पास पहुँचकर युधिष्ठिरने अपना नाम लेकर उन्हें प्रणाम किया। गुरु द्रोणाचार्यने कहा—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते जय कैसे होगी?' बताया—मैं ब्राह्मण हूँ। मुझमें क्षत्रियों जैसा धैर्य नहीं। अतएव युद्धस्थलमें मुझे कोई गम्भीर शोक-समाचार सुना देगा तो मेरा धीरज जाता रहेगा और मैं सरलतासे पराजित हो जाऊँगा। आगे चलकर यही किया गया। गुरु द्रोणाचार्यके पुत्रका नाम था अश्वत्थामा। एक हाथीका भी यही नाम था। हाथीको मार डाला गया और स्वयं धर्मराज युधिष्ठिरने द्रोणाचार्यके पास जाकर उन्हें सूचना दी—'अश्वत्थामा हतः।' इतना कहनेके साथ ही युद्धके बाजे बड़े जोरसे बजा

दिये गये। युधिष्ठिरने अपने सत्यकी रक्षा करनेके लिये आगे कहा—'नरो वा कुंजरो वा।' पर ये शब्द गुरु द्रोणाचार्यको सुनायी न पड़े। एक तो बहुत धीरेसे कहे गये थे, दूसरे रणके बाजे बड़े
जोरसे बज रहे थे। गुरु द्रोणाचार्यने इस संवादसे यह अर्थ लिया कि उनका पुत्र अश्वत्थामा मारा गया और वे पुत्र-शोकमें विह्वल हो गये। इसी अवस्थामें उनपर अस्त्र छोड़ा गया और वे पराजित हो गये।

इसके पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर कृपाचार्यके पास पहुँचे और उन्होंने वैसे ही उन आचार्यके चरणोंमें प्रणाम किया। कृपाचार्यजीने आशीर्वाद दिया—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते कैसे जय होगी।' कृपाचार्यने बताया—'मैं युद्धमें लड़ूँगा नहीं; युद्ध-स्थल छोड़कर विरक्त जीवन-व्यतीत करूँगा।' उन्होंने वैसा ही किया।

अन्तमें धर्मराज युधिष्ठिर अपने मामा शल्यके पास पहुँचे और उन्हें भी उन्होंने चरण छूकर प्रणाम किया। मामाजीने आशीर्वाद दिया—'बेटा! तुम्हारी जय हो।' प्रश्न हुआ—'आपके रहते हमारी जय कैसे सम्भव है?' मामाजीने उत्तर दिया—'भीष्मपितामहके गिर जानेपर कर्ण सेनापति होंगे। अर्जुनके साथ उनका युद्ध होगा। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह अर्जुनके अतिरिक्त अन्य किसीसे युद्ध नहीं करेगा। अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण हैं। अतएव कर्णको उनके समान अश्व-संचालनमें पटु सारथि चाहिये। मैं इस कलाका पण्डित हूँ। श्रीकृष्णकी तुलनामें यदि कोई टिकनेका साहस कर सकता है तो वह मैं ही हूँ। कर्ण मुझे अपना सारथि बनानेकी माँग रखेगा। मैं उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लूँगा, पर इस शर्तपर कि मैं सारथि-अवस्थामें कर्णको कुछ भी भला-बुरा कहूँ, कर्ण उसे सुनता रहेगा, प्रत्युत्तर नहीं देगा। बस, उस समय मैं कर्णका आत्मबल

कम करूँगा और आत्मबल ही योद्धाका प्राण है। कर्णका आत्मबल कम होगा और इस प्रकार उसपर अर्जुन विजय प्राप्त करनेमें सफल होगा।'

आगे चलकर ऐसा ही हुआ—सारथि रूपमें शल्य बराबर कर्णका उत्साह भंग करते रहे—'कहीं शशक सिंहसे युद्ध कर सकता है? अर्जुनके सामने तुम शशक हो'—आदि-आदि व्यंग करते रहे। बार-बार इस प्रकारकी विपरीत बातें सुननेसे कर्णके मनकी दृढ़तामें कुछ अन्तर आया और अर्जुन उन्हें पराजित करनेमें सफल हो गये।

इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरके प्रणाम करनेकी क्रियाने महाभारतके अन्तिम परिणामको बदल दिया, अन्यथा कौरवोंपर विजय पाना पाण्डवोंके लिये असम्भव-सा था।

आत्मप्रशंसा आत्महत्या है

सन् १९६५ की बात है। श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) वृन्दावन गये। स्थानीय नगरपालिका-हालमें उनके सत्संगकी व्यवस्था हुई। नगरपालिकाके अध्यक्षने इस अवसरका सुन्दर लाभ उठाते हुए श्रीभाईजीके अनजानमें उन्हें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेकी व्यवस्था की। सभा आरम्भ होनेपर श्रीभाईजीको ज्ञात हुआ कि अध्यक्ष महोदय 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने जा रहे हैं। उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ, किन्तु विनम्र शब्दोंमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेका विरोध किया; परन्तु वहाँ उपस्थित कतिपय गुरुजनों एवं महात्माओंने उन्हें आदेश दिया कि वे चुपचाप बैठे रहें, उसका विरोध न करें। उन्होंने कहा—'आप मनसे इसको स्वीकार न कीजिये, बाहरी रूपमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करके इनको संतुष्ट हो लेने दीजिये।' गुरुजनोंके आदेशके सामने श्रीभाईजी नतमस्तक हो गये, किन्तु उन्होंने उठकर 'अभिनन्दन-पत्र' स्वीकार नहीं किया। अध्यक्ष

महोदयने अपने संक्षिप्त भाषणमें श्रीभाईजीकी बड़ी प्रशंसा की और अन्तमें उन्होंने कहा—'विनयकी मानो भाईजी मूर्ति हैं।' श्रीभाईजी अपनी प्रशंसाके शब्द सुनकर बड़े ही संकुचित हुए, परन्तु अपने शीलवश बीचमें कुछ बोले नहीं।

अध्यक्षके भाषणके बाद श्रीभाईजीका प्रवचन प्रारम्भ हुआ। श्रीभाईजीने कहा—'मैं अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका सदासे विरोधी रहा हूँ। इसीसे मैंने आप-लोगोंकी प्रीति एवं कृपाका हृदयसे आदर करते हुए भी 'अभिनन्दन-पत्र' का विरोध किया है। सम्भव है, मेरी यह चेष्टा अधिक मान पानेका प्रयास हो। मनुष्यके अन्दर एक छिपी कामना होती है—मान और बड़ाई पानेकी। बहुत बड़े-बड़े त्यागी-महात्मा जो जगत्‌के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहनेपर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर भी मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।'

मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले। इनसे चित्तमें प्रसन्नता नहीं हुई होगी, यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानता है। आप सब आशीर्वाद दें—यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-सम्पन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो।

महाभारतकी एक कथा है, जिसका सार है—'अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या है।' इसका अर्थ मैं यह लेता हूँ कि अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना जिस प्रकार आत्महत्या है, उसी प्रकार अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना भी आत्महत्या है।

कर्णपर्वमें कथा आती है—जब अर्जुन कर्णके साथ युद्ध करनेका भार भीमको सौंपकर युधिष्ठिरके पास पहुँचते हैं, तब युधिष्ठिरको यह भ्रम हो जाता है कि अर्जुन कर्णका वध करके आये हैं और वे अर्जुनसे कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त पूछते हैं। अर्जुन संकुचित होकर कर्णको न मार सकनेका कारण बतलाते हैं तथा उसका वध करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

श्रीयुधिष्ठिर कर्णके बाणोंसे संतप्त थे, अतएव कर्णको सकुशल सुनकर वे अर्जुनपर कुपित हो गये। उन्होंने क्रोधके आवेशमें यहाँतक कह दिया—'अर्जुन! तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्रबलसे तुमसे बढ़कर हो—'

प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः।

युधिष्ठिरके मुखसे अपनी तथा अपने गाण्डीवकी भर्त्सना सुनकर अर्जुन मर्माहत हो उठे और उन्होंने क्रोधमें आकर युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे तलवार उठा ली। श्रीकृष्ण अर्जुनका आशय समझ गये, परन्तु उन्होंने अर्जुनसे तलवार उठानेका हेतु पूछा। अर्जुनने कहा—मेरी यह प्रतिज्ञा है, जो मुझसे यह कह दे कि तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे दो, उसका मैं सिर काट लूँगा।'

भगवान श्रीकृष्ण समझ गये कि अर्जुन क्रोधमें पागल हो रहे। उन्होंने अर्जुनको विस्तारपूर्वक धर्मका मर्म समझाया और कहा—'गुरुजनोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती। गुरुजनोंका अपमान कर देना—उन्हें अपमानजनक शब्द कह देना ही उनकी हत्या है। तुम युधिष्ठिरके प्रति अपमानजनक वाक्योंका प्रयोग कर दो। इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।' अर्जुनने अपने परम हितैषी सखा भगवान् श्रीकृष्णके आदेशको शिरोधार्य किया और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा-पूर्तिके लिये युधिष्ठिरको

अपमान-जनक शब्द कह डाले। युधिष्ठिरको रूखी और कठोर बातें सुनाकर अर्जुन अत्यन्त अनमने और उदास हो गये, जैसे भीषण पातक करके कोई मनुष्य पछता रहा हो।

अर्जुनने लंबी श्वास ली और फिरसे अपनी तलवार निकाल ली। भगवान् श्रीकृष्णके पूछनेपर कि 'तलवार म्यानसे बाहर क्यों निकाली गयी?' अर्जुनने कहा—'मैंने अपने बड़े भाईका अपमान किया है। अतएव अपने शरीरको नष्ट कर डालूँगा।' भगवान् श्रीकृष्णने देखा, स्थिति फिर गंभीर हो गयी है। उन्होंने समझाया—'अर्जुन! धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है, उसको जानना या समझना बहुत कठिन है। भाईका वध करनेसे जिस घोर नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक स्वंयकी हत्या करनेसे प्राप्त होगा। अतः पार्थ! तुम अपनी ही वाणी द्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो, ऐसा करनेसे मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया—आत्महत्या कर ली—'

'ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ।'

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके हाथके यन्त्र थे, उन्होंने धर्मका रहस्य समझकर अपने मुँह अपने गुणोंका बखान कर अपना वध करनेकी प्रतिज्ञाका निर्वाह किया। इस प्रकार आत्म-प्रशंसा करना या सुनना आत्महत्याके समान माना गया है।

'मंद करत जो करइ भलाई'

सन् १९६७ की बात है। एक व्यक्ति अपनेको विद्यार्थी घोषित करता हुआ श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के पास आया। श्रीभाईजी उन दिनों अस्वस्थ थे और ऊपरके कमरेमें रहते थे। नीचे उनका सेवक आनेवाले व्यक्तियोंसे मिलकर, उनकी आवश्यकता जानकर श्रीभाईजीको सूचित करता था। श्रीभाईजी आगत महानुभावकी आवश्यकता समझकर

सहायताकी रकम अपने सेवकको बता देते थे और वह आगत महानुभावको उतनी रकम देकर उनका स्वागत कर देता था। आवश्यक होनेपर भाईजी आगत सज्जनको अपने पास बुलाकर भी बात कर लेते थे। उस दिन आगत महानुभावको देखते ही सेवकने पहचान लिया कि इस व्यक्तिको कई बार भाईजीके यहाँसे सहायता मिल चुकी है और वह विद्यार्थी नहीं है। सेवकने उसे समझाया—'आप कई बार सहायता पा चुके हैं। बेचारे बहुत लोग अभावग्रस्त हैं, सभीको मौका मिलना चाहिये यहाँसे पानेका। बार-बार एक ही व्यक्ति आता रहे—यह तो ठीक नहीं। दूसरे, आप विद्यार्थी न होकर अपनेको विद्यार्थी क्यों कहते हैं? किसीकी सज्जनताका दुरुपयोग तो नहीं करना चाहिये। सच्ची-सच्ची बात कहिये—'मैं अभावग्रस्त हूँ, मुझे कुछ चाहिये।' इतना सुनते ही वे अपने कलई खुलनेसे उत्तेजित हो गये, अंट-संट बोलने लगे। सेवकको यह बुरा लगा। उसने गम्भीर स्वरमें कहा—आप भद्रतापूर्वक व्यवहार करें तो मैं आपकी बात सुननेको तैयार हूँ। परन्तु इस प्रकार उत्तेजित होकर अशोभनीय बात कहना चाहते हैं तो आपको यहाँ नहीं आना चाहिये था। आप लोग अपना अभाव निवेदन करने आते हैं कि इस प्रकार धोखा देकर क्रोध करनेके लिये?' इतना सुनते ही आगत सज्जन बहुत क्रोधमें आ गये और सेवकको गाली देने लगे। हल्ला सुनकर श्रीभाईजीके दौहित्र आ गये। उस व्यक्तिको गाली देते उनको बहुत बुरा लगा और उन्होंने दरवानको आवाज देकर उन सज्जनको समझाकर बगीचेके बाहर कर दिया। इतना ही नहीं—दौहित्र अपने नानाजी (श्रीभाईजी)के पास गये और उन्हें बताया कि किस प्रकार बार-बार सहायता प्राप्त करनेवाला व्यक्ति धोखा प्रकट होनेसे आपके सेवकको बुरी-बुरी गाली देकर गया है। श्रीभाईजी दौहित्रकी बातें सुनते रहे। पीछे बोले—'वह घरकी किसी

अभावमयी स्थितिसे परेशान होगा, इसीसे विद्यार्थीका स्वाँग बनाकर आया था। मनुष्य जब अभावमें होता है तब उसका विवेक मारा जाता है। उसने गाली दी, यह उसकी भूल है; पर गाली किस लाचारीकी स्थितिमें दी, यह तो हम नहीं जानते। बेचारेकी परिस्थितिमें हम होते, तब पता चलता हम क्या करते।' दौहित्र अपनी बातपर अड़े थे कि 'आपके सेवकको गाली देना आपको गाली देना है। ऐसे व्यक्तिको तो कभी भी एक पैसा नहीं देना चाहिये।' श्रीभाईजीने कुछ भी उत्तर नहीं दिया चुप हो गये।

थोड़ी देर पश्चात् आगत महानुभावका कहींसे टेलीफोन आया। श्रीभाईजीने टेलीफोन उठाया। उसने कहा—'मैं आपके यहाँ अपनी आवश्यकता निवेदन करने गया था, पर आपके सेवकसे कुछ तकरार हो गयी। उन्होंने मुझे बगीचेसे बाहर जानेका आदेश दिया और मैं बिना अपना दुःख सुनाये चला आया। मेरी माँ बीमार है, मुझे इतने रुपये चाहिये।' श्रीभाईजीने टेलीफोनपर सब बातें सुनकर कहा—'आज तो नहीं, पीछे मिलियेगा।' पर उन्हें कहाँ चैन। उन्होंने १० मिनट पश्चात् पुनः टेलीफोन किया। श्रीभाईजीने पुनः टेलीफोन उठाया और कहा—'मैंने आपसे कह दिया था कि आज नहीं।' इसपर वे टेलीफोन पर ही बड़े गिड़गिड़ाने लगे। अपनी आवश्यकताका महत्व बताने लगे। श्रीभाईजी द्रवित हो गये। बोले—'आ जाइये। आपके इतने रुपये मिल जायेंगे। आप उसी सेवकको मिल लीजियेगा। वह आपको इतने रुपये दे देगा। आपको इस तरह झगड़ा नहीं करना चाहिये। गाली तो कभी देनी ही नहीं चाहिये।'

उसने कहा—'हाँ, मुझसे भूल हो गयी है। मैं क्रोधमें आ गया और मेरे मुँहसे अपशब्द निकल गये। मैं सेवक महानुभावसे माफी माँग लूँगा।'

उसे आनेकी बात कहकर श्रीभाईजीने अपने सेवकको बुलाया और कहा—'मुझे बच्चोंने बताया है कि एक सज्जन आये थे। उन्होंने तुमसे झगड़ा किया और गाली तक देने लगे। वे झूठ बोल रहे थे—यह मैं जानता हूँ; पर बेचारे हैं तो कष्टमें। उनकी माँ बीमार है। उनका टेलीफोन आया है। मैंने उनको कह दिया है। तुम उन्हें इतने रुपये दे देना। दुःखी व्यक्तिका विवेक नष्ट हो जाता है।'

सेवक श्रीभाईजीके हृदयकी कोमलतासे परिचित थे। उन्होंने कहा—'मैं देनेके पक्षमें हूँ—अपने पास हो तो अभावग्रस्तको देना ही चाहिये; पर वे झूठ बोल रहे थे। इसीसे मैंने उन्हें समझाया कि सच्ची बात कहिये। झूठ क्यों बोलते हैं!' आपने उन्हें आनेको कहा ही है। उनके आनेपर मैं उन्हें इतने रुपये दे दूँगा।

वे सज्जन आये और सेवकसे मिले। वे अपनी गलतीके लिये बार-बार क्षमा याचना करने लगे। सेवकने कहा—'मेरे मनपर इस घटनाका कोई प्रभाव नहीं है। पर आप कहीं भी जायँ, कुछ भी कहें; पर झूठका आश्रय नहीं लेना चाहिये। सही-सही अपनी आवश्यकता निवेदन कर देनी चाहिये।' वे सज्जन बड़े लज्जित हुए। रुपये पाकर आशीर्वाद देते हुए चले गये।

रुपये देकर जब सेवक श्रीभाईजीसे मिला, तब भाईजीने कहा—'भैया! अभावग्रस्तको विवेक नहीं रहता। दूसरे, अभावग्रस्तके व्यवहारकी ओर न देखकर उसके अभावकी ओर देखना चाहिये। तीसरे, भूल करनेवालेके प्रति अपना सद्व्यवहार कम नहीं होना चाहिये। ऐसे व्यक्तिके प्रति किया गया सद्व्यवहार ही उसके सच्चे सुधारमें हेतु बनता है। शासनद्वारा कभी सच्चा सुधार सम्भव नहीं है। शासनसे अपराध दृढ़मूल हो जाता है। शासन अपराधीका सुधार नहीं करता है, अपराधीको और अधिक अपराधी बनाता है।'

सेवक नतमस्तक थे। उन्हें श्रीतुलसीदासजीके वचन स्मरण हो आये—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

स्नेहका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये

श्रीभाईजीकी आत्मीयता प्रसिद्ध है। जो भी, किसी भी हेतुसे, उनके सम्पर्कमें आया, वह सदाके लिये उनका हो गया तथा समय और स्थानकी दूरीसे फिर उस आत्मीयतामें कभी कोई व्यवधान नहीं आया। सच्ची आत्मीयता आत्मीयताको सृष्ट करती है। यही हेतु है कि सभी लोगोंसे श्रीभाईजीको सच्चा स्नेह प्राप्त हुआ। गोरखपुर श्रीभाईजीका क्रिया-क्षेत्र रहा है। अतएव यहाँके नागरिकोंके लिये श्रीभाईजी परिवारके एक गुरुजनके रूपमें समादृत रहे।

श्रीभाईजीका जीवन आरम्भसे ही बड़ा क्रियाशील था। दिन-रातमें अधिक-से-अधिक चार-साढ़े-चार घंटे विश्राम करते थे। इस व्यस्तताका प्रभाव शरीरपर होना स्वाभाविक था। शरीर प्रायः अस्वस्थ रहने लगा, पर अस्वस्थताकी बिना कुछ परवाह किये श्रीभाईजी कार्यमें जुटे रहते थे। हाँ, शरीर-धर्मके नाते शुद्ध औषध वे लेते थे। गोरखपुरके सभी डाक्टर एवं वैद्योंसे श्रीभाईजीकी बड़ी ही घनिष्ठता थी और तनिक-सा संकेत पाते ही सभी डाक्टर-वैद्य उन्हें देखनेके लिये उपस्थित हो जाते थे। इसमें वे अपना अहोभाग्य मानते थे कि श्रीभाईजी जैसे प्राणीमात्रके सच्चे हितैषीकी सेवाके लिये उनके औषधज्ञानका यत्किञ्चित उपयोग हुआ। पर श्रीभाईजीका स्वभाव था—नियम-सा था कि जिनका जो व्यवसाय(profession) है, उनकी उस सेवाको मुफ्त नहीं लेना है। स्नेह स्नेहके स्थानपर है, पर जिनके लिये चिकित्सकका पेशा आजीविकाका साधन है, उन्हें उसके लिये उचित पारिश्रमिक देकर ही सेवा लेनी

चाहिये। अपने इस नियमके अनुसार अपने यहाँ आनेवाले सम्मान्य डाक्टर महानुभावोंसे श्रीभाईजीने यह समझौता कर लिया था कि वे उन्हें जो दें, वह उन्हें लेना होगा। जो-जो डाक्टर महानुभाव श्रीभाईजीके इस आग्रहको माननेमें अपने असमर्थ पाते थे, श्रीभाईजी आवश्यक होनेपर भी अपने उपचारके लिये उन्हें बुलानेमें संकोच करते थे। वैसे प्रेमके नाते श्रीभाईजीके दर्शनार्थ वे लोग आते रहते थे।

सन् १९५१ की बात है। श्रीभाईजीके हृदयमें थोड़ी पीड़ा रहने लगी। कई महीने कष्ट रहा। स्थानीय सरकारी अस्पतालके सिविल सर्जन कैप्टन राजेन्द्रप्रसादजी बड़े ही अनुभवी तथा निपुण डाक्टर थे। अनेकों सांघातिक अवस्थाओंमें उनके उपचारसे लोगोंको प्राण-दान मिला था। परिवारवाले तथा मित्रोंने श्रीभाईजीके सामने कई बार आग्रहपूर्ण प्रस्ताव रखा कि कैप्टन राजेन्द्रप्रसादजीको भी देखनेके लिये बुलाया जाय; पर श्रीभाईजीको ज्ञात था कि कैप्टन राजेन्द्रप्रसादजी उनके यहाँसे फीस स्वीकार नहीं करते। अतएव श्रीभाईजीने सभी लोगोंके आग्रहको सुनकर भी कैप्टन राजेन्द्रप्रसादजीको बुलाना स्वीकार नहीं किया। श्रीभाईजीकी अस्वस्थताकी बात छिपनेवाली चीज नहीं थी। कुछ दिनोंमें कैप्टन राजेन्द्रप्रसादजीको भी पता चल गया कि श्रीभाईजी बीमार हैं। वे बिना बुलाये ही श्रीभाईजीके निवास-स्थानपर पहुँच गये और बड़े ही स्नेहसे उपालम्भ देते हुए श्रीभाईजीके कमरेमें घुसे—'भाईजी! आपने मुझे अपनी बीमारीकी सूचनातक नहीं दी, क्या आपने डाक्टर राजेन्द्रप्रसादको मरा हुआ मान लिया था?' डाक्टर साहबके इन आत्मीयताभरे शब्दोंको सुनते ही श्रीभाईजीका हृदय भर आया और वे बहुत ही संकोचभरे शब्दोंमें बोले—'डाक्टर साहेब! यह मेरी भूल है, पर क्या करूँ, यह मेरे स्वभावका दोष है। स्वजन लोग मुझे बहुत समझाते हैं, किंतु मैं अपने स्वभावदोषको नहीं सुधार पाता।

इसीसे आपको सूचना नहीं दी।'

ऐसी लाचारीके प्रसंगपर भी अपने संकोची स्वभावका निर्वाह करनेकी श्रीभाईजीकी दृढ़ताको देखकर डाक्टर साहेब गद्गद् हो गये। उन्होंने बड़े ही स्नेहसे बहुत देरतक श्रीभाईजीका निरीक्षण किया एवं उपचारके सम्बन्धमें कई प्रकारके सुझाव दिये।

डाक्टर साहेबके लौट जानेपर श्रीभाईजीने अपने सेवकसे कहा—'डाक्टर साहेबके स्नेहको देखकर मेरा हृदय भर आया। ऐसे सच्चे स्नेही कहाँ मिलते हैं। पर किसीके स्नेहका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। अपने व्यक्तिगत स्वार्थके लिये स्वजनको कष्ट देना ही क्या स्नेह है? स्नेही देनेका आग्रह करता रहे और अपने मनमें उससे लेनेका संकल्प ही उदय न हो, तब शोभा है। किसी दूसरेके लिये डाक्टर साहेबकी सेवाकी आवश्यकता होती तो उन्हें बुलानेमें मुझे प्रसन्नता होती, पर अपने लिये बुलाना स्नेहका दुरुपयोग है।'

सेवक सच्चे स्नेहका आदर्शरूप देखकर मुग्ध हो गया।

साधु-व्यवहार

संतका व्यवहार लोकातीत होता है। उनकी अपनी कोई माँग नहीं होती और वह दूसरेकी माँगको पूरा करनेके लिये सदा तत्पर रहता है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार गृहस्थके रूपमें रहते हुए एक सच्चे संत थे। उनके जीवनकी अनेक घटनायें हैं, जहाँ उन्होंने दूसरोंकी उचित-अनुचित—सभी प्रकारकी माँगोंका आदर किया है।

अप्रैल, सन् १९६८ की बात है—श्रीभाईजी अपने परिवारसहित सत्संगके लिये गीताभवन, स्वर्गाश्रम जा रहे थे। लखनऊ स्टेशनपर उनके लिये देहरादून एक्सप्रेसमें हरिद्वारतकके लिये प्रथम श्रेणीकी चार टिकटोंकी एक केबिन आरक्षित

करायी गयी थी। जब गाड़ी स्टेशनपर पहुँची और श्रीभाईजीके साथी डिब्बेमें घुसे, तब उन्होंने देखा—एक शिक्षित भद्र पुरुष सपरिवार उनके लिये आरक्षित केबिनमें बैठे हैं। श्रीभाईजीके साथके लोगोंने उन महाशयको केबिन खाली करनेके लिये कहा, किन्तु पढ़े-लिखे होनेपर भी उन्होंने केबिन खाली करना अस्वीकार कर दिया। उसका हेतु पूछनेपर उन्होंने बताया कि उनके नामसे 'सी' केबिन आरक्षित है और चूँकि यह 'सी' केबिन है, अतएव वे उसे खाली नहीं करेंगे। श्रीभाईजीके व्यक्तियोंने उनसे प्रार्थना की—'लखनऊसे दो बोगीज हरिद्वारके लिये लगती है। आपका 'सी' केबिन दूसरी बोगीमें है, इसमें नहीं; पर वे कुछ भी सुननेको तैयार नहीं हुए। श्रीभाईजीके व्यक्ति रेलवे अधिकारियोंको बुलाने जा रहे थे कि श्रीभाईजी डिब्बेमें प्रविष्ट हुए। जब उन्हें पता चला कि केबिनके लिये विवाद हो रहा है, तब वे पूरी परिस्थिति समझे बिना ही अपने साथवालोंपर बिगड़ खड़े हुए—'यात्रामें दूसरोंकी सुख-सुविधापर ध्यान नहीं देते, मेरे लिये सुविधा करना चाहते हो। दूसरोंको असुविधा होनेसे मुझे जो हृदयमें कष्ट होगा, उसकी तुमलोगोंको कल्पना नहीं है। जब एक केबिनमें एक महाशय सपरिवार बैठे हैं, तब तुमलोगोंको उसमें क्यों प्रविष्ट होना चाहिये?' श्रीभाईजीके सेवकने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—'हमलोगोंके नामसे यह केबिन आरक्षित है। इन महाशयके लिये इसी प्रकारकी दूसरी केबिन दूसरी बोगीमें है। हम इनसे यही प्रार्थना कर रहे हैं—'आप भूलसे दूसरी बोगीके 'सी' केबिनमें आ गये हैं। लाइये, आपका सामान अपने कुलियोंद्वारा उस बोगीके 'सी' केबिनमें भेज दें।' हम इनके साथ तनिक भी अभद्र व्यवहार या ज्यादती नहीं कर रहे हैं।' श्रीभाईजी पूरी स्थितिको समझ गये, किन्तु उनका संत-हृदय इस बातको स्वीकार नहीं कर सका कि जबतक वे सज्जन अपनी भूल समझकर स्वयं जानेको तैयार

न हों, हमलोग उस केबिनमें घुसकर उन्हें वहाँसे हटनेकी प्रार्थना करें और स्वयं केबिनके बाहर गैलरीमें खड़े हो गये। संयोगसे कानपुरकी एक बहन भी उसी गाड़ीसे हरिद्वार जा रही थीं। उनके नामसे 'बी' केबिन आरक्षित था। जब उन्होंने देखा कि श्रीभाईजी अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ गैलरीमें खड़े हैं, तब उन्होंने प्रार्थना की—'आप मेरी केबिनमें आकर बैठ जायँ।' श्रीभाईजीने पहले तो स्वीकार नहीं किया, पर जब सबने आग्रह किया, तब वे उस बहनकी केबिनमें अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ जाकर बैठ गये। परन्तु भाईजीका सब सामान गैलरीमें पड़ा रहा। साथवाले व्यक्तियोंको इससे बड़ा कष्ट हुआ और उनका बहुत समय इस विवादमें लग गया। परिणाम यह हुआ कि भाईजीके परिवारकी बहन, साथका एक नौकर तथा बहुत-सा सामान प्लेटफार्मपर रह गया और गाड़ीने सीटी दे दी तथा गाड़ी चल पड़ी। परिवारकी बहनके प्लेटफार्मपर रह जानेकी बात जब साथियोंने भाईजीको बतायी, तब उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु वे इस बातसे निश्चिन्त थे कि लखनऊके अनेकों श्रद्धालु, जो उन्हें विदा करनेके लिये आये थे, उस बहनको सँभाल लेंगे तथा उसे सुरक्षित किसी दूसरी गाड़ीसे हरिद्वार भेज देंगे।

गाड़ी छूटनेपर सेवकने श्रीभाईजीको 'सी' केबिनवाले महानुभावकी नासमझी तथा हठधर्मीको समझानेकी चेष्टा की, पर श्रीभाईजी इस बातको स्वीकार ही नहीं कर पाये कि उनके साथवालोंको उन महाशयके साथ तनिक भी जबर्दस्ती करनी चाहिये थी। श्रीभाईजी बहुत देरतक सेवकको समझाते रहे—'जहाँ विवाद हो, वहाँ अपनी माँगका त्याग कर देना चाहिये। सुख-सुविधाका मनसे सम्बन्ध है; हमलोग जैसे-तैसे बैठकर चले जायेंगे। तुमने उन महाशयसे बार-बार कहा सुना है, तुम इसके लिये जाकर उनसे माफी माँगों। चलो, मैं उनसे माफी

माँगता हूँ।'—इतना कहकर वे उठ खड़े हुए उन महाशयके पास जानेके लिये; पर सेवकने अनुनय-विनय करते हुए स्पष्ट किया—उन महाशयके साथ मैंने तनिक भी अभद्र व्यवहार नहीं किया है। वे बड़े मजेमें अपना केबिन बंद किये बैठे हैं।

इसी बीच हरदोई स्टेशन आ गया। कंडक्टर महोदयने उन महाशयकी टिकटोंकी जाँच की और उन्हें समझाया कि आपका आरक्षण दूसरी बोगीमें है, इसमें नहीं। उनको बाध्य होकर दूसरे डिब्बेमें जाना पड़ा। श्रीभाईजीने अपने सेवकसे कहा—'उनका सब सामान कुलियोंके द्वारा उस डिब्बेमें भिजवा दो और कुलियोंको पैसा अपने पाससे दे दो तथा उनसे क्षमा माँग लो कि आपको डिब्बा परिवर्तन करनेका कष्ट उठाना पड़ रहा है।' सेवकने यही किया। इतना ही नहीं, जब वे सज्जन डिब्बेसे उतरने लगे, तब स्वयं श्रीभाईजीने उनसे कहा—'आपको असुविधा हुई, क्षमा कीजियेगा।'

भूल करनेवालेसे क्षमा माँगना श्रीभाईजीका ही काम था। श्रीभाईजीके इस साधु-व्यवहारको देखकर साथवाले मुग्ध हो गये।

'मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा'

शुद्ध अन्तःकरणका यह स्वरूप है कि वह किसीके प्रति रुक्ष व्यवहार या कड़ा व्यवहार न कर सकता है न होता देख सकता है। फिर चाहे वह व्यवहार उसकी किसी भूलके लिये ही क्यों न हो। वास्तवमें संतमें शासनके भावका सर्वथा अभाव होता है। वे प्रेमके शासनको ही महत्व देते हैं।

लगभग १८ वर्ष पूर्व श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी) के निवासस्थानपर श्रीराधारानीका जन्मोत्सव था। उन दिनों श्रीभाईजी कुछ अस्वस्थ थे। अपने कमरेमें लेटे रहते थे। गीताप्रेसके एक वरिष्ठ सदस्य तथा एक वरिष्ठ अधिकारी श्रीभाईजीसे मिलनेके

लिये गये। रात्रिका प्रथम प्रहर था। श्रीभाईजीने एक तार लगानेके लिये लिखवाया। वरिष्ठ सदस्य पासके कमरेमें रखे हुए टेलीफोनके पास गये और उन्होंने फोनोग्राम देनेके लिये तारघरका नम्बर माँगा। तारबाबूने टेलीफोनपर उत्तर दिया—'अभी थोड़ी देर ठहरकर तार लूँगा।' थोड़ी देर बाद पुनः फोन किया गया, पर तारबाबूने तार लेना स्वीकार नहीं किया, कुछ और ठहरनेके लिये कहा। इस प्रकार रात्रिके नौ बज गये। उन दिनों रात्रिके नौ बजेके बाद तार देनेपर एक रुपया अधिक चार्ज लगता था। तार देनेवाले महानुभावने तारबाबूको फोन किया। तारबाबूने उत्तर दिया—'नौ बज गये हैं; अब तार लेनेका एक रुपया अधिक चार्ज लगेगा।' तार लगानेवाले महानुभावको उनके द्वारा एक रुपया अधिक लेनेकी बात अनुचित लगी और उन्होंने तारबाबूके इस व्यवहारका विरोध करते हुए कहा—'हम एक रुपया अधिक नहीं देंगे। हमने तो बहुत देर पहले तार नोट करनेको कहा था। आपने अबतक तार क्यों नहीं लिया।' इसपर तारबाबू झल्ला गये और इस प्रकार तार देनेवाले सज्जन और तारबाबूमें थोड़ी कहा-सुनी हो गयी। गीताप्रेसके अधिकारी महानुभाव पासमें ही खड़े थे। उन्होंने अपने हाथमें टेलीफोन लिया और थोड़ी कड़ाईके शब्दोंमें तारबाबूको तार लेनेके लिये कहा। साथ ही उन्होंने यह धमकी दी—'यदि आप तार न लेंगे तो हम आपके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करेंगे।' तारबाबूपर इस धमकीका प्रभाव हुआ और उन्होंने बिना अधिक चार्जके ही तार ले लिया।

इस पूरे वार्तालापको श्रीभाईजी कमरेमें लेटे हुए सुन रहे थे। अपने स्वजनोंद्वारा तारबाबूको इस प्रकारके धमकीके शब्द कहना उन्हें सहन नहीं हुआ। उनका नवनीतके समान कोमल संत-हृदय स्वजनोंके इस कठोर व्यवहारसे पिघल गया। उन्होंने तुरंत दोनों स्वजनोंको अपने पास बुलाया। दोनों व्यक्तियोंके

आनेपर श्रीभाईजीने कहा—'भैया! पैसेका लोभ किसको नहीं है। बेचारा एक रुपया ज्यादा माँगता था तो आप उसके प्रति कड़ी कार्यवाही करनेकी धमकी देने लगे। यदि आप उसकी शिकायत करेंगे तो मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा...।' श्रीभाईजीके इस प्रकारके वचन सुनकर दोनों स्वजन चुप हो गये। उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। दोनोंके हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई कि हमें तारबाबूके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करनेकी धमकी नहीं देनी चाहिये थी।

कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है

माँ भागीरथीके बायें तटपर स्थित गीताभवन (स्वर्गाश्रम) में प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म-ऋतुमें लगभग तीन-साढ़े तीन महीने सत्संगका आयोजन होता है। गीताभवनमें ठहरनेवाले व्यक्तियोंको गंगापार ले जानेके लिये यन्त्रचालित नौका (मोटरबोट)की व्यवस्था है। प्रतिदिन सैकड़ों हजारों तीर्थयात्री भी स्वर्गाश्रम पधारते हैं। उस मोटरबोट द्वारा दर्शनार्थ आने-जानेवाले यात्रियोंको भी गीताभवनके यात्रियोंके साथ यथासम्भव गंगापार करनेका सुअवसर दिया जाता है। पर जब गंगाजीमें जल बढ़ जाता है, तब बोटद्वारा गंगापार करना निरापद नहीं रहता। उन दिनों अनिवार्य होनेपर ही सीमित यात्रियोंको लेकर बड़ी सावधानीके साथ बोट चलाया जाता है। उस समय दर्शनार्थ आये यात्रियोंको बोटद्वारा गंगापार होनेकी सुविधा बहुत कम उपलब्ध हो पाती है; पर 'रहत न आरत के चित चेतू' की उक्तिके अनुसार यात्री जबरन बोटपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं। बोटके कर्मचारी स्थितिकी गम्भीरताका ज्ञान रखनेके कारण उन व्यक्तियोंके साथ सहानुभूति रखते हुए भी उनके दुराग्रहको स्वीकार नहीं कर पाते। परिणामत: कभी-कभी कुछ यात्री उग्र हो जाते हैं और बोट-कर्मचारियोंके साथ संघर्ष कर बैठते हैं।

इसी प्रकारकी विकट परिस्थिति कुछ वर्षों पूर्व एक दिन गीताभवनके बोट-कर्मचारियोंके समक्ष उपस्थित हो गयी। गीताभवनमें ठहरे हुए यात्रियोंको पहुँचानेके लिये बोट लगा हुआ था और उसमें सामान लादा जा रहा था। दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियोंको उस बोटद्वारा पार ले जाना सम्भव नहीं था। सीमित व्यक्तियोंसे अधिक व्यक्तियोंके सवार होनेसे बोटके डूब जानेका भय था। बोटके कर्मचारी दर्शनार्थियोंको हाथ जोड़कर बड़ी ही नम्रतापूर्वक अपनी लाचारीका परिचय दे रहे थे और प्रायः यात्री उनकी विवशता समझकर वहाँसे हट जा रहे थे। इसी समय एक प्रसिद्ध नगरसे आये हुए एक सम्भ्रान्त परिवारके आठ-दस सदस्य उस बोटपर चढ़नेके लिये पहुँचे। उनमें दो-तीन पुरुष थे, दो-तीन बच्चे तथा शेष महिलायें। बोटके कर्मचारियोंने उन्हें पूरी स्थितिसे अवगत कराया और समझाया—'गीताभवनमें ठहरे हुए कुछ यात्रियोंको उस पार पहुँचानेके लिये ही बोट लगा हुआ है। यात्रियोंकी संख्या पर्याप्त है और श्रीगंगाजीकी बढ़ी हुई स्थितिमें अधिक यात्रियोंके साथ बोट ले जानेमें उसके उलट जानेका पूरा भय है।' परन्तु उन नागरिकोंने कर्मचारियोंकी इस अनुनय-विनयका मजाक उड़ाया और जबरदस्ती बोटपर चढ़नेका प्रयत्न किया। जब कर्मचारियोंने उन्हें यों करनेसे रोका, तब उन नागरिकोंने अपशब्द कहे तथा पीटनेकी धमकी दी। बात बढ़ गयी और कर्मचारियोंपर कुछ घूँसे पड़े तथा उनके कपड़े फट गये। उन यात्रियोंमें भी जो सबसे बड़े व्यक्ति थे, उनके कपड़े फट गये। स्थितिको बिगड़ते देखकर घाटपर खड़े लोगोंने बीचमें हस्तक्षेप करके दोनों ओरके व्यक्तियोंको पृथक्-पृथक् कर दिया।

बोटके कर्मचारी बेचारे कर्मचारी ही ठहरे। अबएव वे उन यात्रियोंको भला-बुरा कहते हुए अपने काममें लग गये। परन्तु उन यात्रियोंने इस घटनाको बड़ा अपमान समझा और

वे इसके लिये पुलिसमें रिपोर्ट करनेके लिये जाने लगे। संयोगवश वहाँपर खड़े हुए कुछ व्यक्तियोंने उन्हें समझाया—यह बोट गीताभवनका है और गीताभवनके प्रधान श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) आजकल यही हैं। आप उन्हींके पास जाइये और उन्हें अपना दुःख सुनाइये। यात्री लोग 'कल्याण' के पुराने ग्राहक थे और उनके हृदयमें श्रीपोद्दारजीके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। अतएव लोगोंका परामर्श मानकर वे श्रीभाईजीके निवास-स्थानपर जा पहुँचे। क्रोधके मारे उनका हृदय जल रहा था और वे बड़े ही कठोर शब्दोंमें प्रतिशोध लेनेके विविध रूपोंका उल्लेख कर रहे थे।

उस समय श्रीभाईजी अपने कमरेमें थे। जब उन्होंने कुछ लोगोंकी क्रोधजनित धमकियाँ तथा अपशब्द सुने, तब वे अपनी सहज प्रसन्न एवं शान्त मुद्रामें कमरेसे बाहर आये। दोनों हाथ जोड़े हुए सबका अभिवादन करते हुए उन्होंने कहा—'आइये, यहाँ विराजिये।' श्रीभाईजीके इन प्रेमभरे शब्दोंने तथा उनकी सहज आत्मीयताने जादूका-सा काम किया और वे सभी सज्जन श्रीभाईजीके समीप वहीं बरामदेमें बैठ गये। श्रीभाईजीने कहा—'आपलोग इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं, कृपया निवेदन करें।' बस, इतना संकेत पाते ही उन्होंने अपना रोष प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। मनुष्य स्वभावकी यह कमजोरी है कि उसकी दृष्टि अपनी भूलोंकी ओर नहीं जाती, दूसरेमें ही सब दोष दिखायी पड़ते हैं। यही बात उन लोगोंके साथ थी। उन्होंने खूब अतिरञ्जित करके बोटके कर्मचारियोंका दोष बतलाया तथा यह प्रश्न उपस्थित किया कि 'हमें भी आज घर लौट जाना है। ऐसी स्थितिमें हमें बोटसे पार क्यों नही किया गया?' श्रीभाईजीने बड़े ही शान्तभावसे उनकी प्रत्येक बात सुनी और फिर बोले—'आपलोग जैसा कह रहे हैं, यदि ऐसा ही हुआ है तो सचमुच बहुत ही अशोभन है परन्तु बोटके

कर्मचारी पुराने व्यक्ति हैं और प्रतिदिन उनका सैकड़ों व्यक्तियोंसे काम पड़ता है। आज तक ऐसे अभद्र व्यवहारकी शिकायत उनके सम्बन्धमें नहीं आयी है। सम्भव है, आप लोगोंके द्वारा हुई किसी चेष्टाका उन्होंने गलत अर्थ लिया हो। मैं उन लोगोंको बुलाकर पूछूँगा और उनकी भूलके लिये उन्हें सावधान करूँगा। आपलोग उन्हें क्षमा कर दीजिये और शान्त हो जाइये।'

श्रीभाईजीके सद्भावपूर्ण शब्द भी उन लोगोंके क्रोधसे तप्त हृदयको रुचिकर नहीं लगे। क्रोध और दुःखके आवेशमें कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके शब्द बोलने लगे। संतका हृदय नवनीतके सदृश होता है। वे किसीके भी अनिष्टको सहन नहीं कर पाते। श्रीभाईजीको लगा होगा—ये महानुभाव अपने व्यस्त जीवनमेंसे कुछ समय निकालकर माँ गंगाके जलसे पवित्र होने तथा पुण्यभूमि एवं संत महात्माओंके दर्शन करनेके लिये आये हैं; किन्तु अहंताके वशीभूत होकर यहाँसे ले जा रहे हैं—प्रतिहिंसा, द्वेष, घृणा, असद्भाव, अशान्ति, जो लोक और परलोक दोनोंके विघातक हैं। अतएव इनके इन दोषोंके परिक्षालनका उपाय उन्होंने किया। श्रीभाईजीने दोनों हाथ जोड़ लिये और बड़े ही मन्द स्वरमें निवेदन किया—'बोटके कर्मचारी हमारे व्यक्ति हैं। कर्मचारीकी चेष्टा मालिककी चेष्टा होती है। हमारे कर्मचारियोंके द्वारा जो कुछ भी अपराध हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा हुआ अपराध मानता हूँ। और इसके लिये आप सबसे क्षमा चाहता हूँ। आप उन कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके विचारको सर्वथा त्याग दीजिये। मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ ....।' इतना कहते-कहते श्रीभाईजीकी आँखोंमें अश्रुकण छलक आये और उन्होंने अपना मस्तक उन लोगोंके समक्ष जमीनपर टेक दिया। उनके दोनों हाथ उसी प्रकार जुड़े हुए थे। सबके श्रद्धास्पद, वयोवृद्ध महापुरुषको इस प्रकार नेत्रोंमें जल भरे, हाथ जोड़े तथा पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-

याचना करते हुए देखकर यात्रियोंका हृदय द्रवित हो गया और वे सब-के-सब सुबक-सुबककर रोने लगे। नवयुवकोंने अपने हाथोंसे श्रीभाईजीके मस्तकको ऊँचा किया और स्वयं उनके परम-पावन चरणोंमें गिर पड़े। एक अपूर्व सात्विक दृश्य उपस्थित हो गया। सब मौन थे और सबकी आँखें झर रही थीं। यात्रियोंका रोष, उनका असंतोष, उनकी घृणा आदि अश्रुबिन्दुओंके साथ बह गये थे। अब उनका हृदय इस वेदनासे परिपूर्ण था कि श्रीभाईजी-जैसे सच्चे एवं निर्दोष संतको अपने व्यवहारसे हमने क्यों व्यथित किया। वे उनके चरणोंपर सिर रखे हुए यही भीख माँग रहे थे—'भाईजी! हमारे कारण आपका हृदय व्यथित हुआ, इसके लिये हमें क्षमा कीजिये।' श्रीभाईजीने अपने धोतीके छोरसे अपने नेत्र पोंछे और उन नवयुवकोंके सिरपर प्यारसे हाथ फेरते हुए उन्हें ऊपर उठाया। साथ ही उन्होंने अपने सेवकको, जो इस मर्मस्पर्शी दृश्यको देखकर द्रवित हो रहा था, जल लानेका आदेश दिया। जल आनेपर श्रीभाईजीने सब व्यक्तियोंको मुँह धोनेके लिये कहा। जब सब मुँह धोकर तैयार हो गये, श्रीभाईजीने उनसे प्रार्थना की—'भोजन तैयार है। आप सब लोग भोजन करके जाइयेगा।' जिस भाईके कपड़े फट गये थे, उनके लिये नये कपड़े लानेका आदेश अपने सेवकको दिया, किन्तु उस भाईने हाथ जोड़कर विनय की—'भाईजी! आपकी कृपासे किसी चीजकी कमी नहीं है। कपड़े साथमें है, मैं बदल लेता हूँ। हाँ, आपके यहाँका प्रसाद हमलोग अवश्य ग्रहण करेंगे।'

सब व्यक्ति प्रसाद ग्रहण करने लगे। श्रीभाईजीकी धर्मपत्नी आदि परिवारके सदस्य बड़ी मनुहारके साथ उन्हें भोजन करा रहे थे। उधर भाईजीने बोटके कर्मचारियोंको बुलाया और उन्हें बड़े ही प्रेमसे समझाया। उन लोगोंने पूरी परिस्थितिका परिचय देते हुए अपनी भूल स्वीकार की कि उन लोगोंके अभद्र

व्यवहार करनेपर भी हमें क्षुभित नहीं होना चाहिये था। अपनी भूलके लिये वे बार-बार क्षमा-याचना करते लगे। श्रीभाईजीने उनसे कहा—'तुम लोगोंको यात्रियोंसे क्षमा-याचना करनी चाहिये। वे लोग भोजन करके अभी बाहर आ रहे हैं तथा बड़े प्रेमसहित उन्हें बोटद्वारा उस पार पहुँचाकर आना।' इसी बीच यात्री प्रसाद ग्रहण करके बाहर आ गये। बोटके कर्मचारियोंने उनसे हाथ जोड़कर अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी। उन यात्रियोंमेंसे पुरुषोंने कहा—आपलोग हमें हमारे अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा कीजिये। दोनों ओरके हृदय शान्त थे, दोनों ओर अपनी भूलकी स्वीकृति थी और उसके लिये क्षमा-याचना थी।

श्रीभाईजीने यात्रियोंसे प्रार्थना की—'अब आपलोग इन कर्मचारियोंके साथ जाइये। ये आप लोगोंको बोटद्वारा उस पार पहुँचा देंगे।' सबने श्रीभाईजीको प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद लेकर बोटके कर्मचारियोंके साथ विदा हो गये।

यात्रियोंके जानेके पश्चात् सेवकने श्रीभाईजीसे कहा—'बाबूजी! आपने तो साधुताकी हद ही कर दी। इस प्रकारसे उन नवयुवकोंके सामने नेत्रोंमें जल भरकर तथा हाथ जोड़े हुए पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-याचना करनेकी क्या आवश्यकता थी?' श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'तुम्हारा अपने दृष्टिकोणसे कहना ठीक है; किन्तु किसीको हमारे व्यवहार द्वारा उद्वेग प्राप्त हुआ हो तो उसके लिये हमें सच्चे हृदयसे परिताप होना ही चाहिये। ऐसा करना साधुता नहीं है, यह तो अपनी भूलका परिशोधन है। बोटके कर्मचारी हमारे हैं, उनके व्यवहारका दायित्व हमपर है। हम गीता-भवनमें प्रवचनकर्ताके स्थानपर बैठकर तथा सम्पादकके रूपमें 'कल्याण' में जो-जो बातें कहते-लिखते हैं, कम-से-कम वे तो हमारे जीवनमें होनी ही चाहिये। यदि वे हमारे जीवनमें और व्यवहारमें न आयें तो हमें न तो प्रवचन ही करना चाहिये, न 'कल्याण'में ही कुछ

लिखना चाहिये। कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है; आचरणके बिना उपदेश व्यर्थ है—बकवास है—कुत्तेकी भाँति भौंकना है।'

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन-रात।
कूकर जिमि भूसत फिरे, सुनी-सुनायी बात॥

सेवकको अपनी भूल समझमें आयी। उसने अपना मस्तक श्रीभाईजीके चरणोंमें टेक दिया। उसकी आँखोंसे अश्रुजल बह रहा था।

नियम-पालनकी दृढ़ता

बात उन दिनोंकी है, जब श्रीगोविन्दबल्लभजी पंत उत्तरप्रदेशके मुख्यमंत्री थे। श्रीपंतजी गोरखपुर पधार रहे थे। नगरके प्रमुख नेता, नागरिक एवं अधिकारी—सभी उनके स्वागतके लिये स्टेशनपर एकत्रित हो रहे थे। श्रीपंतजी प्रातःकाल पहुँचनेवाली गाड़ीसे आ रहे थे। हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका श्रीपंतजीसे बहुत पुराना प्रेमका सम्बन्ध था। श्रीपंतजी श्रीभाईजीके व्यक्तित्व एवं विविध क्षेत्रोंकी उनकी अमूल्य सेवाओंसे बहुत प्रभावित थे और जब-जब वे गोरखपुर आते, श्रीभाईजीसे अवश्य मिलते थे। श्रीभाईजीका यह स्वभाव था कि वे अपने प्रेमी एवं सुहृज्जनोंको सदा सम्मान देते थे, चाहे उनसे अवस्थामें कोई छोटा ही क्यों न हो। श्रीपंतजीके आगमनकी सूचना श्रीभाईजीको भी प्राप्त हो गयी थी। अतएव वे भी श्रीपंतजीका स्वागत करनेके लिये स्टेशनपर जा पहुँचे।

श्रीभाईजीने स्टेशन जानेकी चर्चा अपने साथियोंसे नहीं की। प्रातःकाल नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने ड्राइवरसे गाड़ी मँगवायी और अकेले ही स्टेशन पहुँच गये। श्रीभाईजी अपनी जेबमें कभी पैसा नहीं रखते थे। खादीके बनियान और धोती उनका नित्यका वेष था। जब बाहर जाना होता, तब ऊपरसे कुर्त्ता पहन लेते थे। उस दिन भी उन्होंने वही किया।

स्टेशन पहुँचनेपर उनके ध्यानमें आया कि प्लेटफार्मके लिये पैसा तो नहीं लाये हैं। स्टेशनके सभी अधिकारी श्रीभाईजीके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे तथा मिलनेपर उन्हें प्रणाम करते थे। अतएव प्लेटफार्मपर उनसे प्लेटफार्म टिकट माँगनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। पर श्रीभाईजीका सिद्धान्त था—'नियम नियम है, कोई हमें नियम भंग करनेपर कुछ न कहे, तब भी हमें नियमका दृढ़तासे पालन करना चाहिये। मनुष्यको एकान्तमें भी किसी बुराईका आश्रय नहीं लेना चाहिये।' अतएव वे स्वाभाविक रूपसे स्टेशनके बाहर खड़े हो गये।

इस बीच उनके एक स्वजन भी, जो वर्षोंसे उनके साथ कार्य कर रहे थे, श्रीपंतजीके स्वागतके लिये स्टेशनपर पहुँचे। श्रीभाईजीके समीप आकर उन्होंने उन्हें प्रणाम किया और वहाँ रुकनेका कारण पूछा। श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'आप जानते ही हैं, मैं तो अपने पास पैसा रखता नहीं और साथमें कोई आया नहीं। बिना प्लेटफार्मका टिकट लिये भीतर कैसे जायँ? श्रीपंतजी बाहर आयेंगे ही, उनसे यहाँ मिल लिया जायगा।'

स्वजनने कहा—'भाईजी! आपसे कौन प्लैटफार्मका टिकट माँगता है। पर मुझे ज्ञात है—आप नियमके पालनमें बड़े दृढ़ हैं। अच्छा, मैं अभी प्लेटफार्मका टिकट ला देता हूँ।' यों कहते हुए वे प्लेटफार्मका टिकट लेनेके लिये दौड़ पड़े। इसी बीच गाड़ी प्लेटफार्मपर आ गयी और पंतजी अपने डिब्बेसे उतरकर सबका स्वागत ग्रहण करते हुए प्लेटफार्मके बाहर पधारे। फाटकपर श्रीभाईजी खड़े थे उन्हें देखते ही श्रीपंतजीने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। श्रीभाईजीने भी हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। श्रीपंतजी श्रीभाईजीके साथ बातें करने लगे और दोनों साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। सामने श्रीपंतजीके लिये सरकारी मोटर खड़ी थी। दोनों महानुभावोंका वार्तालाप चालू

था। दोनों महानुभाव साथ-साथ गाड़ीमें बैठकर डाक-बँगलेपर चले गये।

श्रीभाईजीके नियम-पालनकी इस दृढ़ताका स्मरणकर वे स्वजन आज भी गद्गद हो जाते हैं।

'मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा'

बात संवत् १९८६ की है। हमारे परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) उन दिनों गोरखपुर शहरके उत्तरी भागमें रेलवे इंजन-रोडके समीप स्थित एक बगीचेमें रहते थे। यह बगीचा श्रीकान्तिबाबूका था और श्रीभाईजीने इसे किरायेपर ले रखा था। उन दिनों श्रीभाईजीपर भगवान्की कृपाकी वर्षा हो रही थी। भगवत्कृपाके विलक्षण प्रसङ्ग उस बगीचेमें घटित होनेके कारण श्रीभाईजीके प्रति स्नेह सद्भाव रखनेवाले स्थानीय जालान (मारवाड़ी वैश्य) परिवारके एक बन्धुने यह बगीचा श्रीकान्तिबाबूसे खरीद लिया। उस बगीचेको खरीदनेमें उनकी आन्तरिक अभिलाषा यही थी कि श्रीभाईजी वहाँ बराबर रहें और उनकी उपस्थितिसे उसका महत्व बढ़ता चला जाय। परन्तु दैवका कुछ और ही विधान था—'तेरे मन कुछ और है, कर्त्ताके कुछ और।'

उन दिनों गोरखपुर शहरमें बहुधा प्लेगका प्रकोप हो जाता था। उस वर्ष भी प्लेगका प्रकोप हुआ। शहरके लोग अपने घर खाली करके शहरके बाहरी हिस्सोंमें जाकर रहने लगे। पर निर्धनता बड़ी क्रूर होती है। शहरके प्रसिद्ध साहबगंज मुहल्लेमें रहनेवाला एक निर्धन मारवाड़ी ब्राह्मण, जिसका नाम बनारसी था, प्लेगकी चपेटमें आया और ठीकसे उपचार न होनेके कारण चल बसा। उसकी अनाथा स्त्री और बच्चे प्लेगका प्रकोप देखकर ही आतङ्कित थे, अपने पति-पिताको प्लेगका ग्रास होते देखकर तो वे और भी भयभीत हो गये।

अब वे घर छोड़कर शहरके बाहर कहीं शरण लेनेके लिये व्यग्र हो गये; किन्तु निर्धनको कौन आश्रय दे? ऐसे भीषण समयमें जब सभी शरणार्थी बने हुए थे, कौन उनकी व्यवस्था करे? ब्राह्मण-पत्नीको किसीने श्रीभाईजीकी शरण ग्रहण करनेके लिये प्रेरित किया। ब्राह्मण-पत्नी श्रीभाईजीसे मिली और श्रीभाईजीने उसे अपने आवास स्थान—किरायेके बगीचेमें आकर रहनेके लिये कह दिया।

बगीचेके मालिक जालान-बन्धु भी साहबगंज मुहल्लेमें रहते थे। प्लेगके प्रकोपको देखकर वे भी बगीचेके उस हिस्सेमें जाकर रहने लगे थे, जो हिस्सा श्रीभाईजीके किरायेमें नहीं था। जालान-बन्धुको यह बात ज्ञात हुई कि ब्राह्मणकी विधवा पत्नी बनारसी और बच्चोंको श्रीभाईजी अपने हिस्सेके कमरोंमें लाकर ठहरा रहे हैं, तब वे भयभीत हो गये। जिस परिवारमें प्लेगके प्रकोपसे एक व्यक्तिकी मृत्यु हुई है, उसे अपने साथ शरण देना जालानबन्धुको निरापद प्रतीत नहीं हुआ। मौतकी आशंकासे उनका हृदय काँप उठा। उन्होंने श्रीभाईजीसे प्रार्थना की—'उस ब्राह्मण परिवारको बगीचेमें शरण नहीं देनी चाहिये। हमलोग भी सपरिवार वहाँपर रहने लगे हैं। ब्राह्मणकी मृत्यु प्लेगसे हुई है। अतएव उसके परिवारवालोंके साथ रहनेमें सभीको प्लेग हो जानेका भय है।'

श्रीभाईजीने उन बन्धुकी बात सुन ली और उन्हें प्रेमपूर्वक समझाया—'उस असहाय परिवारको शरण देना हमलोगोंका कर्त्तव्य है। किसी घरका एक व्यक्ति यदि प्लेगसे मर जाय तो क्या उसके अन्य सदस्योंसे भी प्लेग हो जानेका भय करना चाहिये? जब रोगका प्रकोप हो रहा है, उस समय बिना किसी भेद-भाव अथवा अन्यथा विचारके अपनी शक्तिभर लोगोंको शरण देनी चाहिये।'

श्रीभाईजीकी इस सीखका कुछ भी प्रभाव जालान

बन्धुपर नहीं पड़ा। वे किसी भी हालतमें अनाथ ब्राह्मण परिवारका बगीचेमें रहना स्वीकार नहीं कर सके। आत्मरक्षाकी चिन्तामें उन्होंने श्रीभाईजीके प्रति अपने प्यार और सद्भावको भी कोई महत्व नहीं दिया।

श्रीभाईजीको जालान-बन्धुकी यह हठधर्मी एवं भय सर्वथा अनुचित प्रतीत हुए। उन्होंने जालान-बन्धुको स्पष्ट कह दिया—'बगीचेमें मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा। यदि ब्राह्मण-परिवारको बगीचेमें शरण नहीं मिलेगी तो मैं भी इस बगीचेमें नहीं रहूँगा।' श्रीभाईजीके इतना कहनेपर भी जालान-बन्धुने अपना निश्चय नहीं बदला। उधर श्रीभाईजी अपनी कर्तव्य-भावनापर अडिग थे। परिणामस्वरूप उन्होंने जल्दी ही श्रीगोरखनाथ मन्दिरके उत्तरकी ओर श्रीबालमुकुन्दजी गुप्तका बगीचा किरायेपर ले लिया और उसमें स्थानान्तरित हो गये। पीछे जब श्रीभाईजी बगीचा छोड़कर जाने लगे, तब जालान-बन्धुको अपनी हठधर्मीपर बड़ा विचार हुआ, किन्तु श्रीभाईजी उनके उस आग्रहको मान नहीं सके।

साधुताका आदर्श

बात पुरानी है। हमारे परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार किसी कार्यसे कलकत्ता गये हुए थे। कलकत्तेमें गीताप्रेसकी निजी दूकान है, गोविन्दभवन नामका एक विशाल सत्संग-भवन है, जहाँपर सत्संगका कार्यक्रम प्रायः चलता रहता है। ठीक स्मरण नहीं है कि श्रीभाईजी 'गोविन्द-भवन' सत्संग कराने जा रहे थे कि वहाँसे लौट रहे थे। कई व्यक्ति उनके साथ चल रहे थे। इसी बीच एक युवक श्रीभाईजीके सामने आया और हाथ फैलाकर दीनभावसे बोला—'बाबूजी' मैं भूखा हूँ, कुछ पैसे दीजिये।' श्रीभाईजीने अपनी जेबमें हाथ डाला

और उसमेंसे कुछ रुपये निकाले। कुछ नोट उनके हाथमें बाहर आये। उनमेंसे कुछ उन्होंने उस युवकको दिये और शेष रुपये अपनी पाकेटमें रख लिये। श्रीभाईजी आगे बढ़ रहे थे और वे परस्परके वार्तालापमें व्यस्त थे। अचानक उन्हें लगा कि कोई उनकी जेब छू रहा है। उन्होंने सँभालनेके उद्देश्यसे जेबकी ओर हाथ बढ़ाया। संयोगवश एक युवकका हाथ श्रीभाईजीके हाथमें आ गया। हाथको थामते हुए श्रीभाईजीने युवकके मुँहकी ओर देखा। उन्होंने पहचान लिया कि युवक वही बालक है, जो कुछ क्षण पहले उनसे भीख माँग रहा था। श्रीभाईजीके हाथमें अपना हाथ आ जानेके कारण युवक भयभीत था कि अब उसकी अच्छी तरह पूजा होगी।

श्रीभाईजीने युवककी ओर बड़े ही स्नेहसे देखा; फिर उन्होंने उसका हाथ छोड़ दिया और उसके कंधेपर प्रेमसे हाथ रखते हुए वे उसे किनारे ले गये। श्रीभाईजीने युवकसे कहा—'भैया! तुम रुपयेके लिये ही तो पाकेटमें हाथ डाल रहे थे, ये लो रुपये।' यों कहते हुए उन्होंने अपनी जेबमें-से सब रुपये निकालकर उस युवकको दे दिये। युवक आश्चर्यचकित था। श्रीभाईजीने फिर कहा—'भैया! तुमसे मैं यदि कहूँ कि तुम चोरी मत करो या गिरहकटी मत करो तो यह बात तुम मानोगे नहीं। सबकी अपनी-अपनी आदत होती है। जो आदत पड़ जाती है, वह जल्दी छूटती नहीं। कम-से-कम मेरी इतनी सलाह तो तुम मान ही लो कि रुपयोंका पता लगानेके लिये 'मैं भूखा हूँ' यों कहकर भीख मत माँगा करो। भूखके नामपर रुपयोंका पता लगाना और गिरहकटी करना—यह ठीक नहीं। तुम्हारी इस प्रकारकी चेष्टाका परिणाम यह होगा कि जो वास्तवमें भूखा है, वह जब भीख माँगेगा, तब उसे भी लोग गिरहकट समझकर पुलिसमें दे देंगे उसे भीख नहीं मिलेगी और निरपराध होनेपर भी दण्ड भोगना पड़ेगा। अतः कम-से-कम

मेरी इतनी बात तो तुम अवश्य मान लेना! यह सुनकर युवक विदा हो गया। श्रीभाईजी अपने स्वजनोंके साथ आगे बढ़ गये।

युवक रँगे हाथ पकड़े जानेके कारण अपनी दुर्गतिकी आशंकासे भयभीत था, किन्तु बदलेमें उसे बड़ी ही आत्मीयताका व्यवहार प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, उसे एक सच्चे संतके करका सुखद स्पर्श भी सुलभ हुआ। जीवनमें ऐसी दुर्लभ परिस्थितियाँ ही तो हृदय परिवर्तनमें हेतु बनती हैं। युवक रुपये लेकर आगे बढ़ा, परन्तु उसके हृदयमें अपने कुकृत्यके प्रति ग्लानि और पश्चातापका उदय हुआ।

दूसरे दिन 'गोविन्द-भवन' में श्रीभाईजीका प्रवचन हुआ। प्रवचनके पश्चात् वह युवक श्रीभाईजीसे मिला और उसने एकान्तमें श्रीभाईजीसे कुछ बातें करनी चाहीं। श्रीभाईजी तुरंत उठे और एकान्तमें जाकर उस युवकसे मिले। युवक बड़े ही करुण शब्दोंमें अपनी दीन-हीन अवस्थाका परिचय देने लगा। उसने कहा—'बाबूजी, मेरी एक बूढ़ी माँ है। अपने तथा अपनी माँके भरण-पोषणके लिये मेरे पास कोई साधन नहीं है। जो लोग यह जानते हैं कि 'मैं गिरहकट हूँ' वे न मुझे अपने पास खड़ा होने देते हैं और न कोई काम ही दिलाते हैं। जो लोग मुझे गिरहकटके रूपमें नहीं जानते, उनके पास जब मैं जाता हूँ, तब पुलिस जाकर उनको यह बता देती है कि यह युवक गिरहकट है, आप इसे अपने यहाँ कामपर न रखें। पुलिसकी डायरीमें मेरा नाम दर्ज है। पुलिसके कहनेपर वहाँसे मेरी छुट्टी हो जाती है। भूखा क्या नहीं करता, लाचार होकर मुझे गिरहकटी ही करनी पड़ती है।' यों कहते-कहते युवकने श्रीभाईजीके चरणोंके समीप वे रुपये रख दिये, जो उन्होंने उसे कल दिये थे। रुपये रखकर उसने फिर कहा—'बाबूजी, मुझे रुपयोंकी आवश्यकता नहीं है; आप अपने रुपये ले लीजिये। मुझे आप कोई काम दिला दीजिये, जिससे मैं अपना और

अपनी माँका भरण-पोषण कर सकूँ।' भाईजीने बड़ी ही सहानुभूतिपूर्वक उस युवककी बात सुनी। उनके सामने ऐसे एक नहीं अनेक व्यक्तियोंकी समस्याएँ आ चुकी थीं जहाँ मनुष्य विवशतावश चोरी, अन्याय, झूठका आश्रय लेता है। उन्होंने उस युवकसे कहा—'भैया! ये रुपये तो तुम अपने पास रखो; अभी तुम इनसे अपना काम चलाओ। मैं शीघ्र ही गोरखपुर जानेवाला हूँ। तुम मेरे साथ वहाँ चल सकते हो।'

दो चार दिन पश्चात् श्रीभाईजी गोरखपुर लौटे। साथमें वह युवक भी गोरखपुर आ गया। श्रीभाईजी चाहते तो उसे कलकत्तेमें ही काम दिला सकते थे; किन्तु वे समझ गये थे कि उसे वहाँ कोई काम करने नहीं देगा। गोरखपुर आकर श्रीभाईजीने उसे अपने पास ही रख लिया। उन्होंने किसीको भी उस युवकके बारेमें नही बताया। इस प्रकार वह युवक सम्मानपूर्वक श्रीभाईजीके कहनेपर कार्य करने लगा। '**स्वभावो दुरतिक्रम**'—स्वभावमें परिवर्तन होना बड़ा ही कठिन है—यह प्रसिद्ध है। श्रीभाईजीके साथ रहकर युवक कार्य करने लगा, परन्तु अवसर मिलनेपर एक दिन उसके बुरे संस्कार फिर जाग्रत् हो गये। युवकने मौका पाकर अपने साथ रहनेवाले व्यक्तियोंमेंसे एकके कुछ रुपये चुरा लिये। रुपये चोरी होनेकी बात सम्बन्धित व्यक्तिको ज्ञात हो गयी। वह बेचारा हैरान था कि अभी रुपये यहाँ पड़े थे, इतनी देरमें कहाँ चले गये। साथी लोग रुपयोंकी खोज करने लगे, पर मिले नहीं। किसीने सुझाव दिया कि यहाँ जितने भी व्यक्ति उपस्थित हैं, सबकी तलाशी ली जाय। प्रमुख व्यक्तियोंसे तलाशी लेना आरम्भ किया जाय, जिससे छोटे कर्मचारियोंके मनमें उसके लिये कोई विचार न हो।

श्रीभाईजीको किसी सूत्रसे यह बात ज्ञात हो गयी। वे तुरंत समझ गये कि 'यह कार्य उसी युवकका है, जो साथ

कलकत्तासे आया है। तलाशी लेनेकी बात चल रही है। तलाशीमें उसी व्यक्तिके पास रुपये पकड़े जायेंगे और वह सबकी दृष्टिमें चोर साबित हो जायगा।' उन्होंने तुरंत स्थितिको बचानेके लिये नाटक रचा। उन्होंने गीताप्रेसके मैनेजरके नाम एक छोटा-सा पत्र लिया और उसे लेकर वे अपने कमरेके बाहर आये। वहाँ खड़े हुए एक व्यक्तिसे उन्होंने कहा—'उस युवकको बुलाओ।' व्यक्तिने पूछा—'बाबूजी, क्या काम है?' श्रीभाईजीने कहा—'चिट्ठी गीताप्रेस अभी भेजनी है। बहुत जरूरी है।' व्यक्तिने कहा—'बाबूजी, कार्यालयसे अभी-अभी कुछ रुपये गायब हो गये हैं; पता नहीं चल रहा है कि किसने लिये हैं। सबकी तलाशी होनेकी बात है। उस युवककी भी तलाशी ली जायगी। तलाशी ले लेनेके बाद ही उसको प्रेस भेजना चाहिये।'

इतना सुनना था कि श्रीभाईजी आवेशका नाट्य करते हुए बोले—'क्या वह चोर है? क्या उसने रुपये चुराये हैं? झूठ दोष लगाते हो उसपर तुम। सबकी तो बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।' उस व्यक्तिने विनम्रतापूर्वक कहा—'बाबूजी, किसी व्यक्ति-विशेषपर संदेह नहीं किया जा रहा है। अभी रुपये थे और अभी गायब हो गये।' वह व्यक्ति कुछ और कहना चाहता था कि इसी बीचमें श्रीभाईजी बोले उठे—'मैं कहता हूँ न, उस युवकने रुपये नहीं लिये। मैं गंगाजली उठाकर कह सकता हूँ कि उसने रुपये नहीं लिये, फिर क्यों उसकी तलाशी ली जाय? क्या तुम लोगोंकी तलाशीके लिये मैं अपने कामका हर्ज करूँ? बुलाओ उसको; मुझे अभी वह पत्र उसके हाथ प्रेस भिजवाना है।'

अब कौन बोल सकता था? वह युवक बुलाया गया, श्रीभाईजीने उसको पत्र दिया और वह साइकिलसे गीताप्रेसके लिये रवाना हो गया। युवक गीताप्रेसकी ओर चला जा रहा

था, पर वह किसी दूसरी ही दुनियामें था। वह मन-ही-मन भाईजीकी साधुताका स्मरण कर अपने कुकृत्यपर पश्चाताप कर रहा था। वह सोच रहा था—'मुझे रँगे हाथ पकड़े जानेसे बचानेके लिये भाईजीने कैसा अभिनय किया, क्या-क्या शब्द कहे! ऐसा कौन उदार होगा, जो पापीको पापी जानकर अपना उन्मुक्त प्यार दे? वह अवसर मुझे कब मिलेगा, जब मैं श्रीभाईजीके चरणोंसे लिपटकर रोऊँगा?'

युवक पत्र गीताप्रेस पहुँचाकर घर लौटा और मन-ही-मन उस एकान्त समयकी प्रतीक्षा करने लगा, जब वह श्रीभाईजीके चरणोंपर अपने कुकृत्यको अर्पित कर सके। रात्रिके दूसरे पहरमें एकान्त पाकर वह श्रीभाईजीके पास गया और उनके चरणोंसे लिपट गया। वह फूटफूटकर रो रहा था और बड़ी ही दीनताभरे शब्दोंमें श्रीभाईजीसे क्षमा-याचना कर रहा था। उसने कहा—'बाबूजी, मैंने ही रुपये चुराये थे। ये रुपये लीजिये, ये वे ही रुपये हैं। आपने मेरी रक्षा कर ली, नहीं तो आज न जाने क्या होता। आप ही मेरी नैयाको पार लगायेंगे।' युवकके नेत्रोंसे अजस्र जलधारा बह रही थी।

श्रीभाईजीका भी हृदय भर आया। अपने वरद हाथोंसे उस युवकका मस्तक सहलाते हुए वे बड़ी ही सान्त्वनापूर्ण वाणीमें बोले—'भैया, ये रुपये तुम अपने पास ही रखो। तुम्हारी कोई आवश्यकता थी, तभी तो तुमने रुपये चुराये। भैया! मनुष्य परिस्थितिका गुलाम है। तुम्हारा कोई अभाव था, इससे तुमने चोरी की; परन्तु भैया! तुमको अपने अभावकी बात मुझसे कहनी चाहिये थी। मैं तुम्हारे कहनेपर रुपये नहीं देता, तब तुम चोरी करते। अच्छा, कोई बात नहीं; भविष्यमें फिर कभी ऐसी चेष्टा मत करना। तुम्हें इसके लिये कोई अच्छा भी नहीं कहेगा। तुम पहलेकी भाँति प्रसन्नतासे रहो।'

युवक फफक-फफककर रोता रहा, उसकी हिचकियाँ

बँध गयीं। उसके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकला, नेत्रोंके आँसू उसके हृदय-परिवर्तनका संकेत दे रहे थे। उस दिनके पश्चात् युवकमें सर्वथा परिवर्तन आ गया और वह एक पवित्र एवं सम्मानित जीवन व्यतीत करने लगा।

जगत्में किस प्रकार रहा जाय?

एक सज्जन धार्मिक प्रकृतिके थे तथा गीता-रामायण आदिके प्रति उनकी अभिरुचि थी। पर जगत्में रहकर किस प्रकार अनासक्त भावसे कार्य किया जाय—यह उपदेशोंसे उनकी समझमें नहीं आ रहा था। एक बार वे श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे मिले। उन्होंने अपनी उलझन उनके सम्मुख रखी। श्रीभाईजी मनोविज्ञानके पण्डित थे। वे समझ गये—उपदेशद्वारा इनकी समझमें बात आनी कठिन है, अतएव उन्होंने एक सच्ची घटनाद्वारा कुछ शब्दोंमें उपदेश पूरा किया—'नाटकके अभिनेताकी भाँति जगत्में रहा जाय। नाटकका अभिनेता नाटककी पोशाकको, वहाँके सम्बन्धको, वहाँके नामको, पदको, वहाँके कार्यको अपना नहीं मानता। वह जानता है कि 'केवल अभिनयके लिये वह पोशाक मिली है, अभिनयके लिये नाम, पद, सम्बन्ध हैं तथा केवल अभिनयके लिये अमुक-अमुक कार्य मुझे करने हैं। पर यह समझते हुए भी वह अपना अभिनय ऐसी निपुणतासे करता है कि दर्शक उसे वास्तविक मानकर भ्रममें पड़ जाते हैं। पुरानी बात है—कलकत्तामें मिनर्वा थियेटरमें 'नीलदर्पण' नामक नाटकका अभिनय हो रहा था। नीलके साहबोंके अत्याचारोंसे समाजको अवगत करानेके उद्देश्यसे वह नाटक लिखा गया था। बंगालके बड़े-बड़े विद्वान विचारक भी नाटक देखनेके लिये आमन्त्रित किये गये थे। श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी दर्शकोंमें एक थे।

'एक अभिनेता किसानकी लड़की बना था। उन दिनों

स्त्रियाँ रंगमंचपर नहीं आयी थीं। स्त्री पात्रोंका अभिनय पुरुष ही करते थे। एक अभिनेता अंग्रेज बना हुआ था। नाटकमें एक दृश्य ऐसा आया कि उस अंग्रेजने किसानकी लड़कीके साथ अनुचित चेष्टा करनी चाही। लड़की किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थितिमें भयभीत थी। यह अभिनय इतना स्वाभाविक था कि दर्शक भूल गये कि वे नाटक देख रहे हैं; उन्हें ऐसा लगा कि प्रत्यक्षमें ऐसी घटना हो रही है। सारा दर्शकमण्डल इस अन्यायपूर्ण कुत्सित चेष्टाको देखकर स्तम्भित हो गया। श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे विद्वान् भी भूल गये कि वे नाटक देख रहे हैं। उन्हें अनुभव हुआ—प्रत्यक्ष घटना हो रही है। वे भी रोषमें भर गये और अपनी सीटसे उठकर मंचपर चढ़ गये तथा उन्होंने अपने पैरमेंसे चट्टी जूती निकाली और अंग्रेजके एक लगा दी। चट्टीका आघात करनेपर उनका मोह भंग हुआ। उन्हें स्मरण हुआ—यह तो अभिनय है, प्रत्यक्ष घटना नहीं। वे कुछ सहम गये। इतनेमें थियेटरके डाइरेक्टर श्रीगिरीशचन्द्र घोष भी स्टेजपर आ गये। वे बड़े साधु पुरुष थे, श्रीरामकृष्ण परमहंसके शिष्य थे। उन्होंने हाथ जोड़ श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागरसे प्रार्थना की—'महाराज! यह चट्टी हमें इनायत हो। आप-सरीखे विद्वान् अभिनयको देखकर भूल जायँ और उन्हें लगे कि यह प्रत्यक्ष घटना हो रही है यह हमारी योग्यताका सबसे उत्तम प्रमाणपत्र है।'

'श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर संकुचित हो गये, घोष महोदयके आग्रहको वे टाल न सके। वह चट्टी ले ली गयी और वहाँ एक काँचके केसमें सजा दी गयी। उसके नीचे विवरण लिखा गया कि किस प्रकार यह चट्टी प्राप्त हुई।'

'संसारमें अपने जिम्मेका कार्य इतनी ही निपुणतासे करें, पर कहीं भी आसक्ति-ममता न रहे।'

आगन्तुक महानुभाव इस घटनाको सुनकर मुग्ध हो गये।

उन्होंने कहा—भाईजी! आज मुझे मार्ग मिल गया। आशीर्वाद दीजिये कि मैं जीवनमें इस प्रकार बरत सकूँ।

सेवाका अधिकारी

कुछ वर्षों पूर्व एक समाज-सेवी नेता श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे मिलने आये और अपने सेवा कार्योंकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। इतना ही नहीं, वे समाजके एक-एक व्यक्तिके दोषोंका बखान करने लगे। श्रीभाईजी संत थे। उन्होंने तत्काल परख लिया कि जो दूसरोंके दोषोंका इस प्रकार बखान करता है तथा अपनी स्वल्प-सी सेवाकी इस प्रकार प्रशंसा करता है, वह सेवा क्या करेगा; सेवाके नामपर गंदगी ही बिखेरेगा। यक्ष्माके रोगीकी भाँति उसकी मन-बुद्धि अहंकारसे, व्यक्तिगत स्वार्थसे, काम-क्रोध आदि दोषोंसे ग्रस्त है। वह जहाँ जायगा, वहाँ इन्हीं दोषोंको बिखेरेगा। परिणामतः सेवाके बदले रोगकी वृद्धि होगी। अतएव श्रीभाईजीने सेवकजीको सावधान करते हुए कहा—'दूसरोंका सुधार वही कर सकता है, दूसरोंकी बुराई वही निकाल सकता है, जो स्वयं बुराइयोंसे रहित होकर सर्वथा सुधर गया होगा। उपदेश देकर किसीकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्वका कार्य है। दूसरेके घरका कूड़ा साफ करना पुण्य है; पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे जब हमारी झाड़ू साफ होगी, झाड़नेकी कला हम जानते होंगे और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिये कामकी चीज है, इसको भली-भाँति हम जान लेंगे। तीनोंमेंसे एक बात भी नहीं होगी तो किसीका सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे। हमारी झाड़ूमें यदि गंदा मैला लगा होगा तो हम दूसरोंके घरकी धूल झाड़नेके बदले गंदा मैला वहाँ फैला देंगे। झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूड़ेको इधर-उधर बिखेर आयेंगे और 'कौन कूड़ा है'—इस बातको हम नहीं जानेंगे तो किसी

बड़े ही कामकी आवश्यक वस्तुको हम कूड़ा समझकर फेंक देंगे और उनकी बड़ी हानि कर देंगे—उनके जीवनकी जड़ ही काट डालेंगे। मेरे सामने एक नहीं, अनेक सेवकों—सुधारकोंका जीवन है और स्वयं पाप-पङ्कमें फँसनेके साथ-साथ जो सरल प्रकृतिके भाई-बहनोंके पतनमें हेतु बने हैं।

'मनुष्यकी वाणीसे तथा क्रियासे वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदयमें होती है। मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे, हृदयका असली भाव किसी-न-किसी रूपमें क्रियासे प्रकट हो जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदयमें काम-क्रोध, असत्य, कपट, द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना-वासना, अभिमान-अहंकार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारे द्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरोंको क्या देंगे? ऐसे हृदयको लेकर किसीका सुधार करने जायेंगे तो सिवा अपने हृदयकी इस गंदगीको वहाँ भी फैला देनेके और उसका क्या उपकार करेंगे? यदि समाजमें वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनीसे निकली बुरी बातें उसमें आ जायँगी, वहाँके वातावरणमें हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे। जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, लोक-तन्त्र आदि मनोहर नामोंपर हम लोगोंमें द्रोह, द्वेष, कर्त्तव्य-शून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहंकार, हिंसा आदि अनेकों दोषोंको बढ़ाकर परस्पर दल-बंदियाँ बनाकर और उन्हें दूसरोंको गिरानेके प्रयत्नमें लगाकर उनके लोक-परलोक, दोनोंको नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिकरूपमें संसारमें प्रायः सर्वत्र हो रहा है।

'प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेषरूपसे करना चाहिये, जो समाज और

देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। यहाँतक कि उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती; उस पुरुषका जीवन ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय हो जाता है।'

'आप दूसरोंके लिये उपदेशक बननेकी लालसाको दबाकर पहले अपनेमें योग्यता बढ़ायें एवं अपने जीवनको परम विशुद्ध और भगवान्‌की सेवाके परायण बना दें। फिर आपके द्वारा जो कुछ होगा, सब विश्वकी सेवा होगी। विश्वकी सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान्‌के अनुकूल होता है और जो अपनेको विश्वम्भरकी सेवामें समर्पित कर देता है।'

समाज-सेवी भाई श्रीभाईजीके शब्द सुनकर ग्लानिसे गड़ गये। उन्हें लगा—कहाँ मेरा जीवन, कहाँ मेरा सेवकका बाना! उन्होंने बड़े ही मन्द स्वरमें कहा—'भाईजी! आपने अपने जीवनका सत्य मुझे बता दिया। मैं देखता हूँ, अनुभव करता हूँ कि आप प्रतिदिन जो कुछ लिखते-कहते हैं उससे बहुत अधिक आपके जीवनमें है। यही हेतु है कि आपके लिखने-कहनेका प्रभाव दूसरोंपर पड़ता है और वह प्रभाव स्थायी होता है। आशीर्वाद दीजिये कि पहले मैं स्वयं कुछ बनूँ, तब सेवकका बाना धारण करूँ।'

संत-सेवा

'श्रीभाईजी! लगता है, यह शरीर अब अधिक दिन चलेगा नहीं। मेरी यह इच्छा है कि शरीरका अवसान आपके पास हो; किन्तु एक कठिनाई है, जिसके कारण मनमें थोड़ा संकोच हो रहा है। आप जानते ही हैं कि मैं टी०बी०का रोगी हूँ और धीरे-धीरे उसने अपना प्रभाव मेरे शरीरपर जमा लिया

है। टी०बी० का रोग भीषणरूपसे संक्रामक होता है। ऐसे रोगीको डाक्टर-वैद्य पृथक् रहने तथा रखनेकी सलाह देते हैं। इस रोगको लेकर आपके पास क्यों रहूँ? पर मन मानता नहीं; बार-बार यही इच्छा होती है कि अन्तिम श्वास आपकी संनिधिमें ही जाय।'

प्रसिद्ध श्रीरामसनेही सम्प्रदायके संत श्रीच्यवनरामजीने अपने मनकी यह अभिलाषा श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के समक्ष आजसे लगभग तीस वर्ष पहले व्यक्त की थी। उन दिनों श्रीभाईजी अपने पैतृक स्थान रतनगढ़में रहते थे। संत श्रीच्यवनरामजीकी राम-नाम जपपर अनन्य निष्ठा थी। उनका जीवन बड़ा ही सीधा-सादा तथा संतोचित सद्‌गुणोंसे भरपूर था। श्रीभाईजीके प्रति उनके मनमें बड़ी ही आत्मीयता, बड़ा ही स्नेह, बड़ी ही श्रद्धा थी। वे श्रीभाईजीको सिद्ध महापुरुष मानते थे और यही हेतु था कि वे जीवनका अवसान श्रीभाईजीकी संनिधिमें चाहते थे। महापुरुषोंकी संनिधिमें अमोघ शक्ति होती है—इसपर संत श्रीच्यवनरामजीका दृढ़ विश्वास था।

श्रीभाईजी तो स्नेहकी मूर्ति थे, साथ ही उनके हृदयमें संतो-महात्माओंके प्रति बाल्यकालसे ही बड़ी श्रद्धा थी। वे मानते थे कि साधुमात्रकी सेवा करना गृहस्थका धर्म है और वे स्वयं गृहस्थ थे—आदर्श गृहस्थ थे। अतएव एक सच्चे संतके मुखसे जब उन्होंने यह अभिलाषा सुनी कि उनके पाञ्चभैतिक शरीरका अवसान उनके पास ही हो, तब सहज प्रसन्नताके भावसे श्रीभाईजीने निवेदन किया—'महाराजजी! यह घर तो आपका ही है। संतोंकी चरणरजसे ही घरकी शोभा है। यह मेरा सौभाग्य है, जो आप मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं। जैसी भी सेवा मुझसे बन पड़ेगी, उसे करनेमें मुझे प्रसन्नता होगी। आप तनिक भी संकोच न करें। टी०बी०का रोग है तो क्या? मरना तो सभीको है। रोग उसीको होता है,

जिसको होना है। भगवान्‌के विधानके बिना किसीकी सेवा करनेसे किसीको रोग नहीं लगता।'

श्रीभाईजीके आत्मीयता एवं सौहार्दपूर्ण शब्द सुनकर संत श्रीच्यवनरामजीका हृदय भर आया।

सेवा-धर्म परम गहन है। इसका निर्वाह होना बड़ा ही कठिन है। अपने व्यक्तिगत सुख एवं स्वार्थका ही नहीं, अपने 'अहं' का विलय करनेके पश्चात् ही मनुष्य सेवाका अधिकारी बनता है। भगवत्कृपासे श्रीभाईजीमें ये चीजें सहज ही विद्यमान थीं। अतएव संत श्रीच्यवनरामजीकी सेवा बड़े ही व्यवस्थित एवं सुन्दर रूपमें होने लगी।

श्रीभाईजीने महाराजजीके आवासके लिये अपने मकानमें ही व्यवस्था कर दी। अपने नित्य बैठनेके कमरेके ठीक सामनेका बड़ा कमरा उनको दिया, जिससे श्रीभाईजी बराबर उनकी सँभाल रख सकें। दिनमें जब-जब श्रीभाईजी अपने कमरेसे बाहर निकलकर भोजनादिके लिये भीतर जाते, तब-तब वे महाराजजीसे पूछते—'कहिए, महाराजजी! क्या हाल है?' और श्रीमहाराजजी उत्तर देते—'ठीक है, भाईजी!' और भाईजी मुस्कुराते हुए भीतर चले जाते। इतना ही नहीं, वे स्वयं प्रतिदिन कुछ समयके लिये श्रीमहाराजकी सेवामें उपस्थित होते थे। उस समय उनके शारीरिक कष्टकी बातचीत होती, दवा एवं पथ्य आदिकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें विचार-विमर्श होता। साथ ही भगवच्चर्चा भी होती। रोगीके रूपमें संत थे और सेवकके रूपमें संत थे; अतएव उस समयकी भगवच्चर्चा विशेष महत्वपूर्ण होती थी। जिन व्यक्तियोंको उस समयकी चर्चामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे आज भी अपनेको धन्य मानते हैं।

अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये भगवान् उनकी परीक्षा लेते हैं। रोगीके रूपमें मानो भगवान् ही श्रीभाईजीकी

परीक्षा लेना चाहते थे। परम तितिक्षु और निस्पृह संत श्रीच्यवनरामजीके स्वाभावमें एक विचित्र परिवर्तन भगवान्‌ने उत्पन्न कर दिया। एक दिन जिस पात्रमें वे भोजन करते, दूसरे दिन उन्हीं पात्रोंको अपने सामने देखकर वे कहते—'इन पात्रोंमें तो कल भोजन किया था, आज दूसरे पात्र लाइये।' श्रीभाईजी तत्काल दूसरे पात्रोंकी व्यवस्था करते। इस प्रकार छः सेट बर्तन उनके लिये निर्धारित कर दिये गये थे, जिससे एक पात्रकी बारी छः दिनके बाद आती थी। यही बात ओढ़नेके कम्बलोंके सम्बन्धमें भी थी। कम्बलोंके कई सेटोंकी व्यवस्था श्रीभाईजीने की। और भी कई प्रकारकी विषम परिस्थितियाँ समय-समयपर उपस्थित हो जातीं थीं, किन्तु श्रीभाईजीका संतकी सेवामें बड़ा उल्लास था। उनकी परम-साध्वी, सेवापरायणा धर्मपत्नी भी उस सेवाकी व्यवस्थामें बड़े ही उल्लास एवं प्रसन्नताके साथ सहयोग करती थीं।

इस प्रकार सेवा चलने लगी। किन्तु श्रीभाईजीके प्रति समाजके सभी व्यक्तियोंका अपनापन था। बहुत व्यक्तियोंको तो उनके शरीरके प्रति मोह था। ऐसे महानुभाव श्रीभाईजीके पास पहुँचने लगे और उनसे प्रार्थना करने लगे—'भाईजी! आपने महाराजजीको अपने घरपर रखनेका जो निर्णय किया है वह औचित्यपूर्ण नहीं है। महाराजजीको आप देखते ही हैं कि कितना-कितना बलगम प्रतिदिन गिरता है। टी०बी० का रोग बड़ा भीषण होता है। यह बहुत जल्दी लगता है। आप स्वयं श्रीमहाराजजीके समीप बैठते हैं। कभी-कभी वे अपना सिर आपकी गोदमें रख लेते हैं। आपसे प्रार्थना है कि आप श्रीमहाराजजीकी घरसे पृथक्‌ किसी स्वतन्त्र स्थानमें व्यवस्था कर दें।'

श्रीभाईजी हितैषियोंकी आत्मीयताभरी सलाह सुनते और मुस्कुरा देते। उनपर रोगकी भीषणताका तनिक भी प्रभाव नहीं

था। संत श्रीच्यवनरामजी भी अपना मन निरन्तर भगवान्में लगाये रखते थे। रामनामका जप तथा श्रीभाईजीद्वारा सम्पादित एवं गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित ढाई हजार अनमोल बोल पुस्तकका स्वाध्याय करते रहते।

रोग प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा था। श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज भी बीच-बीचमें रतनगढ़ आया करते थे और अपने हाथोंसे श्रीमहाराजकी सेवा करते थे। महाराजजी श्रद्धेय स्वामीजीके गुरुभाई थे। दोनोंमें बड़ा सौहार्द था।

प्राण-प्रयाणका समय आया। श्रद्धेय श्रीभाईजी, स्वामीजी महाराज, श्रीगोस्वामीजी आदि उपस्थित थे। भगवन्नाम-कीर्तन हो रहा था। इसी परम सात्विक बेलामें संत श्रीच्यवनरामजीके प्राण-पखेरू उड़ गये।

श्रीभाईजीने महाराजजीके सम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार निष्प्राण कलेवरका विधिवत संस्कार किया। संकीर्तनके साथ बड़ा जुलूस शव-यात्रामें था। स्वयं श्रीभाईजी कीर्तन करते हुए पैदल चल रहे थे।

जिस कमरेमें श्रीमहाराजजीका शरीर छूटा, उस कमरेको अच्छी तरह धुलवाकर श्रीभाईजीने उसमें श्रीभगवान्नामका अखण्ड कीर्तन प्रारम्भ करवाया। श्रद्धालुओं, प्रेमियों एवं स्वजनोंके सहयोगसे अखण्ड संकीर्तन बड़ी धूमधामसे चलने लगा। श्रीभाईजी प्रतिदिन अपने व्यस्त जीवनमें-से कुछ समय निकालकर कीर्तनमें सम्मिलित होते थे। वैसे उनका अपना कमरा उसके ठीक सामने था और इस प्रकार कीर्तनकी सँभाल भी वे बराबर करते थे। ढाई वर्षतक अखण्ड नाम-कीर्तन चला।

एक संतद्वारा एक संतकी सेवाका यह स्वरूप होता है।

आप सबने तो मेरी भूलको ही सुधारा है।

'क्यों हमलोगोंको विलम्ब नहीं हो रहा है? पसीनेसे तर-बतर तो हम सब भी हैं, पर कुछ बोलना व्यर्थ ही है! इस तरहके विरोधकी मन्द ध्वनि श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार)के कानोंतक भी जा पहुँची। स्वेदकणोंसे भरा मस्तक, अत्यधिक श्रमसे शान्त शरीर, छड़ीके सहारे उठते हुए चरण क्षणार्धमें वहीं ठहर गये। श्रीभाईजी उस पंजाबी नवयुवककी ओर बढ़े और स्नेहसे कुछ बोलना ही चाहते थे कि गीताभवनके उत्साही सत्संगी, जिन्होंने अपनी निस्स्वार्थ सेवाएँ अपने प्रवासके समयमें गीता-भवनको अर्पित कर रखी थीं, एक साथ ही बोल उठे—'आप जानते हैं, ये कौन हैं?' स्तर तीखा था और प्रश्न भी टेढ़ा।

'होंगे कोई, हमसे क्या, पर जब सब पंक्ति (लाइन)से जा रहे हैं, तब इन्हें क्रम तोड़कर यह सुविधा क्यों दी जा रही है?' पंजाबी नवयुवकोंका स्वर भी तीखा हो चला था।

'जबान सँभालकर बोलिये, नहीं तो ....'

'नहीं-नहीं, ये ठीक ही तो कह रहे हैं; व्यवस्था तथा क्रमकी दृष्टिसे यही उचित है।'—स्नेह-मिश्रित स्वरमें श्रीभाईजी बोल उठे।

उत्साही सत्संगियोंने परिचय देनेके उद्देश्यसे कहा—'बतलावें इनका परिचय .....'

'व्यर्थकी बात मत कीजिये।' गम्भीर स्वरमें श्रीभाईजीने सत्संगियोंसे कहा।

पंजाबी नवयुवक भी असमंजसमें पड़ गये; उन्हें भी सोचनेके लिये विवश होना पड़ा कि आखिर बात क्या है। इसी बीच भाईजी मन्द-स्मितके साथ उनमेंसे एक नवयुवकके कंधेपर हाथ रखते हुए बोले—'आप जाइये; मैं अब पंक्तिसे

आकर ही बोटमें बैठूँगा।' और उसी स्मितके साथ वे पीछे लौट पड़े पंक्तिमें खड़े होनेके लिये।

उसी रात्रिको श्रीभाईजी गीताभवनमें प्रवचन करके आसनसे उठ ही रहे थे कि अचानक श्रोताओंके विशाल समुदाय-से वे ही नवयुवक सामने आ उपस्थित हुए; लज्जाके कारण उनके मस्तक झुके हुए थे, पश्चात्तापका परिताप उनके मुखपर छाया हुआ था—'हमें क्षमा कर दीजिये, हमलोगोंने आपको पहचाना नहीं था। हमारे कारण दोपहरमें आपको डेढ़ घंटे धूपमें प्रतीक्षा करनी पड़ी'—रुद्ध-कण्ठसे समवेत क्षमा-याचनाका स्वर फूट पड़ा।

'नहीं-नहीं, इसमें क्षमाकी क्या बात है? क्षमा तो उसे किया जाता है, जिसने कोई अपराध किया हो; आप सबने तो मेरी भूलको ही सुधारा है। क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिये।'—पास खड़े हुए नवयुवकको गलेमें भरते हुए श्रीभाईजीने मृदु हास्यके साथ कहा।

नवयुवकोंका हृदय रो उठा—अपने अहंकारके पोषणके लिये कह गये शब्द उन्हें कचोट रहे थे और मनपर थी श्रीभाईजीकी महान् सहनशीलताकी, क्षमाकी, उदारताकी एवं स्नेहकी अमिट छाप, जो जीवनमें सदा उनका मार्गदर्शन करती रहेगी।

सेवाका स्वरूप

'सेवा' शब्द ही एक ऐसे आध्यात्मिक पथकी ओर संकेत करता है, जहाँ अहंकार तथा प्रतिदानका आत्यन्तिक अभाव हो और ऐसी सेवा साधना बनती है—साध्यकी ओर ले चलती है। सेवा जब साधनाकी पद्धतिका रूप धारण करती है, तब अर्चनाकी भावनाके साथ उसका एकत्व हो जाता है। विश्वरूपमें विराजित प्रभुने हमें अवसर दिया कि हम उनके

कुछ काम आ सकें—इस विचारसे हृदय द्रवित हो उठता है, न कि प्रतिदानकी आशामें अपूर्णतासे रोषकी रेखा हृदयको क्षुभित कर देती है। प्रतिदानकी कामना तो बहुत आगेकी वस्तु है। सेवाभिमान ही सेवाको साधना-पद्धति बनने नहीं देता। वास्तविक सेवामें यह भाव रहता है—हमारे तन-मन-धन—किसीका भी उपयोग कर सेवा लेनेवालेने हमें उपकृत किया है—कण-कणमें विराजित प्रभुने हमपर अमित कृपाकर अपनी अर्चनाका हमें अवसर दिया है—हम तो सर्वथा अयोग्य हैं।

श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार द्वारा प्रतिपादित सेवाकी यह विलक्षण परिभाषा उनके जीवनका स्वरूप थी। अपने दैनिक व्यवहारमें वे जब भी किसीकी सेवा करते, तब सेवा लेनेवाला उपकृत नहीं होता था; उपकृत होते थे श्रीभाईजी। श्रीभाईजीसे जिन्होंने एक दिन सेवा ग्रहण की थी, किन्तु आज जो स्वस्थ एवं सम्पन्न अवस्थामें हैं, ऐसे एक सम्भ्रान्त व्यक्तिने कुछ ही दिनों पहले—श्रीभाईजीके लीलालीन होनेके पश्चात्—यह घटना रुद्ध-कण्ठसे मुझे सुनायी थी। उनके नेत्रोंमें जल था, हिचकियोंके कारण शरीरमें कम्पन तथा अतीतकी स्मृतियाँ उनके हृदयतलको झकझोर रही थीं।

'करीब १२-१३ वर्ष पहलेकी घटना है—रोग तथा अभावने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। सफलतापूर्वक संसार मुझे तिरस्कृत, अपमानित, उपेक्षित मानने लगा था। रोग अभावको बढ़ा रहा था, अभाव रोगका पोषक था। रोग भी साधारण नहीं, दमा—जरा-सी दूर चलनेमें भी साँस फूलने लगती थी; कहीं भी—थोड़ी दूर भी जाना पड़ता तो मार्गमें कई जगह रुक-रुककर। आयके सभी साधन समाप्त हो चुके थे। उद्यम कर नहीं पाता था, सहायता कोई करनेवाला था नहीं। परिवारवाले भी उपेक्षा करते। जीवनसे निराशा हो चुकी थे मुझे। जीना दुःखद था, मृत्युकी कल्पना सुखद थी। मृत्यु कहीं गंगातटपर

शान्तिके साथ हो—इस इच्छाने स्वर्गाश्रम जानेके लिये प्रेरित किया। मैंने अपनी इस इच्छाको परिवारवालोंकेसामने व्यक्त किया। अविलम्ब प्रसन्नताके साथ स्वीकृति मिल गयी; घरवालोंपर तो बोझ ही था। सर्वथा असहाय, निराश्रित, रुग्ण अवस्थामें मैं स्वर्गाश्रम पहुँचा। 'गीताभवन'में स्थान भर चुका था; किसी तरह हाथ-पैर जोड़कर 'परमार्थ निकेतन' में स्थान मिला। तनसे अशक्त, मनसे निराश, धनसे रहित, मैंने पतित-पावनी गंगामें जल-समाधि लेनेका निश्चय-सा कर लिया था। तभी अचानक किसीसे ज्ञात हुआ कि भाईजी आये हुए हैं। 'कल्याण'का पुराना प्रेमी था—भाईजीके प्रति अगाध श्रद्धा थी; सोचा—'क्यों न एक बार उनके सामने रोकर अपने मनको हल्का कर लूँ। वे तो सब भाँति समर्थ हैं; सम्भव है, मेरे लिये भी कुछ कर दें।' मनके निश्चयको क्रियारूप भी दे ही दिया मैंने।

'कहाँसे आये हैं?'—कई व्यक्तियोंके बीचमें बैठे हुए श्रीभाईजीने पूछा।

इतनी दूर चलकर आनेके कारण बुरी तरह हाँफ रहा था; मैंने अटकते हुए कहा—'कल ... ही ...... कल .....कत्तेसे ... आया .... हूँ।'

मेरी स्थिति, बोलनेके ढंगको देखकर भाईजी शायद समझ गये; उन्होंने पुनः पूछा—'आपका स्वास्थ्य तो ठीक है न? आप इतना हाँफ क्यों रहे हैं?'

स्नेहसे सना स्वर सुनकर हृदय भर आया, नेत्रोंने उत्तर दिया—कण्ठ रुद्ध हो गया।

'आइये, भीतर बैठ जायँ'—यो कहकर वे उठ खड़े हुए, मैंने भी अनुगमन किया।

'निःसंकोच कहिये, क्या बात है? भगवान्‌के मंगलमय विधानपर विश्वास रखिये—विश्वासकी गरिमा लिये श्रीभाईजीका स्वर कक्षमें गूँज उठा।'

रोते-रोते मैंने अपनी सम्पूर्ण स्थिति श्रीभाईजीके सामने स्पष्ट कर दी। बड़ी ही सहानुभूति तथा धैर्यके साथ उन्होंने पूरी बातको सुन—बीचमें एक-दो बार किसीने कक्षमें आनेका प्रयास भी किया, पर श्रीभाईजीने हाथसे संकेत कर उन्हें रोक दिया।

'आत्महत्या करना पाप ही नहीं महापाप है। इससे दु:खोंसे छुटकारा नहीं मिलता, वरन् यह नवीन भयानक दु:खोंको निमन्त्रण देना है। आत्महत्या करनेसे प्रेत-योनि प्राप्त होती है, उस योनिमें प्राणीको भीषण कष्ट उठाने पड़ते हैं। कर्मोंसे छुटकारा तो उनको भोगकर समाप्त कर देनेपर ही मिलता है। आप भगवान्‌की कृपापर विश्वास कीजिये; भगवान् सर्वसुहृद् हैं; वे निश्चय ही आपकी प्रार्थना सुनेंगे और आपके कष्टका निवारण होगा। कल मैं गीताभवनके सत्संगके बाद आपके पास आऊँगा; आप उस समय वहीं रहियेगा।'

भाईजीके स्नेह, कृपा, महानतासे हृदय अभिभूत हो उठा था। मैं धीरेसे उनके कक्षसे बाहर निकल आया और कलकी प्रतीक्षा करने लगा—वे मेरेसे मिलनेके लिये 'स्वयं' मेरे कमरेमें आयेंगे।

'क्यों वैद्यजी आये थे क्या?' दूसरे दिन मेरे कमरेमें प्रवेश करते हुए श्रीभाईजीने मन्दस्मितके साथ पूछा।

'हाँ! आये थे; दवा लिखकर भी गये हैं, पर ..... मैंने मँगवायी नहीं।'

'लाइये कागज मुझे दे दीजिये; मैं मँगवा दूँगा। भोजन आप 'गीता-भवन'के भोजनालयमें कर लिया करें। और हाँ, दूध भी दोनों समय आपके पास पहुँच जाया करेगा।'

मैंने संकोचके साथ कहा—'मुझे आपसे कुछ कहना है।'

'बोलिये, क्या बात है।'

‘नहीं, कोई ऐसी बात नहीं है; वैसे मैं अकेलेमें कहना चाहता था।’ मैंने श्रीभाईजीके पीछे खड़े दो-तीन व्यक्तियोंकी ओर देखते हुए कहा—

‘ठीक है, ठीक है, मैं कल फिर आऊँगा, तब बात हो जायगी; लाइये, वह कागज दीजिये। आज मैं जरा जल्दीमें हूँ।’ श्रीभाईजीने उठते हुए कहा।

मैंने औषध-पत्र श्रीभाईजीके हाथपर रखते हुए अत्यन्त संकोचके साथ कहना चाहा—‘बात यह है कि मेरे पास .....’

‘आज एक बहुत आवश्यक काम है, कल बात करूँगा।’ यह कहते हुए श्रीभाईजी कक्षसे बाहर निकल गये।

मेरी बड़ी विचित्र स्थिति थी, कलका प्रेम—आजकी उपरामता—एक अन्तर्द्वन्दका आरम्भ हो गया हृदयमें। कैसे कहूँगा कि मेरे पास दवाके, दूधके यहाँतक कि अपने भोजनके पैसे भी नहीं हूँ। वे क्या सोचेंगे, क्या उत्तर देंगे? आजकी उपरामताने मेरे हृदयमें और भी विचार उत्पन्न कर दिया था। इन्हीं सब विचारोंमें पड़ा मैं अपनेको धिक्कारने लगा; पर था विवश, निरुपाय; बड़ी करुण स्थिति थी मेरी।

दूसरे दिन उसी समय श्रीभाईजी आये, पर आज उनके साथ अन्य कोई नहीं था। मेरे मनमें भी निश्चिन्तता सी हुई—‘चलो, आज अपनी स्थितिको कहनेमें संकोच कम होगा।’

‘दवा मिल गयी थी न—आपने लेनी आरम्भ कर दी होगी।’ श्रीभाईजीने सहज स्नेहिल स्वरमें पूछा।

‘हाँ, मिल गयी’—छोटा-सा उत्तर दे मैं पुनः ऊहापोहमें डूब गया—कैसे कहूँ? क्या कहूँ। मैं वह सब सोच ही रहा था कि श्रीभाईजीने मन्द स्वरमें कहा—‘आपको जो कुछ भी कहना हो, वह बादमें कह दीजियेगा; पहले मेरे बात सुन लीजिये।’

इतना कहकर उन्होंने एक लिफाफा निकाला और उसे

मेरे हाथमें पकड़ाते हुए बोले—‘इसे रखिये इसमें कुछ रुपये हैं। जो कुछ भी व्यय हो इसमें-से कर दीजियेगा। और देखिये, मैं आपसे अत्यन्त विनयके साथ प्रार्थना करता हूँ—‘भगवान्के नामपर आपसे भीख माँगता हूँ कि आप यह बात किसीसे मत कहियेगा और न इसके लिये मनमें तनिक भी संकोच ही अनुभव कीजियेगा। मैं आपका भाई हूँ आप मेरे हैं, मैं आपका हूँ। मैं वैद्यजीसे भी कह दूँगा कि औषध तथा परीक्षणमें जितना खर्च लगा हो, वे’ आपसे ले लें। अच्छा अब मैं चलता हूँ; फिर आऊँगा’—यों कहते हुए वे स्नेहसे मेरे मस्तकपर हाथ फेरकर कक्षके बाहर निकल गये।

मैं अवाक् बना सोच रहा था—‘श्रीभाईजीकी प्यारसे सनी सेवा कितनी गुप्त, कितनी मूक तथा कितनी अज्ञात थी। प्रतिदानकी तो कौन कहे, सम्मानकी इच्छासे भी दूर—बहुत दूर।’ नेत्र झरते रहे; मैं सोचता रहा, सेवा तथा प्यारका स्वरूप यही है।

प्रार्थना-निष्ठा

प्रभु सर्वसमर्थ हैं, प्रभु सर्वसुहृद् हैं; उनका प्रत्येक विधान जीवमात्रके लिये अशेष मंगलकारी होता है—इस सिद्धान्तपर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी अद्भुत निष्ठा थी। वे अपने प्रवचनोंमें कहा करते थे—

‘विधाता और विधान—दो नहीं हैं। अतएव विधाताके प्रत्येक विधानमें मंगल-ही-मंगल भरा है। इतना होनेपर भी जो विधान प्रतिकूल प्रतीत हो, उसके निवारणके लिये सत्प्रयत्न करनेके साथ-साथ मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्की प्रार्थनामें अमोघ एवं अमित शक्ति है। भगवत्प्रार्थनासे कठिन-से-कठिन कार्य सहजमें सम्पन्न हो जाते हैं। परन्तु भगवान् सहज सर्वज्ञ एवं सर्वसुहृद् हैं। अतः वे उसी प्रार्थनाको

पूर्ण करते हैं, जिसमें हमारा परिणाममें परमहित—परममंगल होता है। हमारी कोई प्रार्थना पूर्ण न हो तो निश्चय समझें कि उसकी अपूर्णता ही मंगलकारिणी है। किन्तु प्रार्थना होनी चाहिये सच्चे मनसे और अचल विश्वासके साथ। प्रार्थनाके लिये किसी विशेष प्रकारके शब्दोंकी आवश्यकता नहीं, भगवान् सब भाषाएँ समझते हैं। प्रार्थनामें चाहिये हृदयकी भाषा।'

बात सन् १९१८ की है। देशकी स्वतन्त्रताके लिये क्रान्तिकारी गतिविधियोंको अपनानेके कारण प्राप्त शिमलापाल (पश्चिम बंगालके बाँकुड़ा जिलेका पुलिस स्टेशन) के अज्ञातवासको पूरा करके श्रीभाईजी मुक्त हुए थे। बंगाल-सरकारने बंगालसे उनके निष्कासनका आदेश भी जारी कर दिया था। अतएव श्रीभाईजी अपने पैतृक स्थान रतनगढ़ (बीकानेर राज्यका एक कस्बा) चले आये थे।

विधिका विधान! अचानक वहाँ प्लेगका प्रकोप हो गया। परिवार-के परिवार नियतिके क्रूर हास्यमें विलीन होने लगे। ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रकृति सबको दिखा देना चाहती थी—जीवन कितना क्षणभंगुर है।

शिमलापालके जीवनमें भगवान्की मंगलमयता तथा भगवत्प्रार्थनापर श्रीभाईजीकी आस्था बहुत दृढ़ हो गयी थी। साथ ही लोकसेवाकी भावना भी परिपुष्ट हुई थी। सब रूपोंमें अपने प्रभु ही हैं; इससे प्राणिमात्रकी सेवा अध्यात्म-साधनाका ही प्रतिरूप था श्रीभाईजीके लिये। प्राणि-सेवामें भी आर्तनारायण—रोग-कष्टसे पीड़ित व्यक्तियोंकी सेवाके लिये विशेष तत्पर रहते थे वे। प्लेगके प्रकोपसे सेवाका उन्मुक्त क्षेत्र सामने था। श्रीभाईजी इस अवसरपर कब चूकनेवाले थे। वे रोगियोंकी सेवामें जुट गये। घर-घर रोगियोंकी सँभाल करना, उनके उपचारकी व्यवस्था करना तथा सबके मनोबलको बनाये रखना—यही दिन-रातका उनका कार्यक्रम था। प्लेगका रोग

भीषण रूपसे संक्रामक होता है। अतएव श्रीभाईजीके कतिपय हितचिन्तकोंने उन्हें यह सलाह दी कि उन्हें कुछ समयके लिये यह स्थान छोड़ देना चाहिये; पर श्रीभाईजी सबको हँसते हुए यही उत्तर देते थे—'यदि साँस समाप्त हो गयी होगी तो कहींपर भी रहूँगा, मृत्यु निश्चित है और यदि जीवन शेष होगा तो यहाँ भी कुछ नहीं हो सकता। फिर इस समय तो मुझे प्रभुने सेवाका अवसर दिया है, इसे क्यों छोड़ूँ।' श्रीभाईजीकी निष्ठापूर्ण प्रभुअर्चनाके रूपमें होनेवाली सेवाका अद्‌भुत प्रभाव भी परिलक्षित हुआ। अनेकों निराश व्यक्तियोंने स्वास्थ्य लाभ किया। एक घटना नीचे दी जा रही है—

एक अत्यन्त साधारण स्थितिका जाट-परिवार जीवनकी कटुताओंको सहते हुए वहाँ निवास कर रहा था। परिवार बड़ा था, आय कम थी। अचानक इस परिवारके सबसे बड़े नवविवाहित पुत्रपर प्लेगका प्रकोप हुआ। यथासम्भव सभी प्रकारके इलाज करवाये गये, पर दशा बिगड़ती ही चली गयी। सबसे बड़े पुत्रको अपनी आँखोंके सामने जाता देख निःसहाय जाट रोता-कलपता श्रीभाईजीके पास पहुँचा। श्रद्धाकी गरिमा, याचनाकी सीमा, विश्वासकी गुरुताके साथ जाटने श्रीभाईजीके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया। उसकी करुण-गाथा सुन, परदुःखकातर श्रीभाईजी सहज ही उसके साथ चल दिये दुःखमें उसका हिस्सा बँटानके लिये। घर पहुँचनेपर बालककी स्थिति देख श्रीभाईजीके मुख-मण्डलपर भी गम्भीर चिन्ताकी रेखाएँ उभर आयीं। चुनी हुई उत्तम-से-उत्तम औषधि निरर्थक साबित हो रही थी। लगता था कि बालक अब कुछ ही घंटोंका मेहमान है। बाहर चेतना प्रायः लुप्त हो चुकी थी। मुखपर किंचित् विकृति भी आ गयी थी। नवविवाहिता बधू लाज-शर्म छोड़कर सामने आयी और फटते हृदय तथा अजल अश्रु धाराके साथ वह श्रीभाईजीके चरणोंपर मस्तक टेक बिलख उठी।

भाषासे शून्य, भावनासे पूर्ण, वेदनाकी मूर्ति वह कुछ कह न सकी। कहनेकी आवश्यकता भी नहीं थी। श्रीभाईजीके नेत्र भी भर आये।

परिवारके सदस्योंको समझानेका प्रयास करते हुए श्रीभाईजीने कहा—'भगवान्‌पर विश्वास रक्खो—उनकी कृपाका अवलम्बन लेकर बालकको गंगाजल देना आरम्भ कर दो। औषधि सर्वथा बन्द कर देनी चाहिये। बालकके समीप सुमधुर स्वरमें भगवन्नामका गान आरम्भ कर दो। भगवान्‌की कृपासे सब कुछ सम्भव है।' इतना कहकर स्वयं श्रीभाईजी वहाँ बेठ गये। सुमधुर स्वरमें उन्होंने नामध्वनि आरम्भ कर दी। गंगाजल भी मँगवाया गया। श्रीभाईजीने स्वयं अपने हाथोंसे उसे गंगाजल दिया।

कुछ देरतक बैठनेके बाद श्रीभाईजी जाने लगे। जाते-जाते उन्होंने पुनः कहा—'भगवान्‌के सौहार्दपर विश्वास करके नाम-ध्वनि सुनाते रहो। बीच-बीचमें बालक जब भी पानी माँगे, उसे गंगाजल ही देना। भगवान्‌की कृपामें अद्‌भुत शक्ति है।'

श्रीभाईजी घर लौट आये। भगवान्‌की अपार कृपासे बालककी स्थिति सुधरने लगी। कुछ ही घंटों बाद बालककी चेतना लौट आयी। वह सबको पहचानने लगा। अब उसके जीवनकी आशा हो गयी। उपचारके साथ प्रार्थना चलती रही। श्रीभाईजी बराबर उसकी सँभाल करते रहे। कुछ दिनोंमें वह निरोग हो गया।

बालक जब चलने-फिरने योग्य हो गया, तब जाट—अपने पूरे परिवार सहित श्रीभाईजीके निवास्थानपर पहुँचा। प्रत्येकका रोम-रोम पुलकित था, प्रसन्नतामें सारे-के-सारे डूबे हुए थे। कृतज्ञताके शब्द तो उनके पास थे नहीं—आनन्दके अश्रु बहाते हुए जाटने श्रीभाईजीके चरण पकड़ लिये। उनकी प्रसन्नताको देख श्रीभाईजीका हृदय भी प्रफुल्लित था। प्यारभरे

आतिथ्यके बाद श्रीभाईजीने कहा—'मुझमें कुछ भी नहीं है, यह सब तो प्रभुकी कृपा है। आपलोगोंकी प्रार्थनामें सच्चाई थी और प्रभु तो करुणा-वरुणालय हैं ही। उनपर निरन्तर विश्वास बढ़ाते रहिये, और मुझे भी ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मेरे हृदयमें भी उनके प्रति प्रेम दृढ़तर, दृढ़तम होता चला जाय। मैं तो किसी योग्य ही नहीं हूँ।'

जाट-परिवार हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करके चला गया, पर परिवारका प्रत्येक सदस्य ले गया अपने साथ एक ऐसी अनुपम निधि, जिससे भवरोगको भी सहज रूपमें ही शमन किया जा सकता है—भगवत्प्रार्थनापर विश्वास। सचमुच प्रार्थना ऐसी ही चमत्कारिणी है—करुणासागर प्रभु भी विवश हो जाते हैं, उन्हें भी वह करुण पुकार सुननी ही पड़ती है।

'उपाधि'—'व्याधि'

बात सन् १९६५ की है। हमारे परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार श्रीकृष्ण-जन्मभूमिपर बन रहे विशाल 'भागवत-भवन'का शिलान्यास करनेके लिये मथुरा गये हुए थे। वृन्दावनकी नगरपालिकाके अध्यक्षके आग्रहपर वे २१ फरवरीको सायंकाल ६ बजे नगरपालिकाके सभामण्डप (मीटिंग हाल) में प्रवचन करनेके लिये पधारे। किन्तु वहाँ जाकर देखते क्या हैं कि उनके अभिनन्दनकी तैयारी है। पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज आयोजनके अध्यक्षके रूपमें विराजमान हैं।

श्रीभाईजी बड़े ही संकोचमें पड़ गये। उन्होंने सबसे हाथ जोड़कर अनुनय-विनय की—'आप कृपा करके यह आयोजन न करें। मैंने आजतक कभी ऐसे आयोजनोंमें भाग नहीं लिया। मैं तो सर्वथा अयोग्य हूँ; जीवन त्रुटियोंसे ही भरा है, पर जीवनके आरम्भसे ही लोकमान्यता पीछे लग गयी। भगवत्कृपासे

मन सदा उससे डरता रहा; उसने कभी उसे स्वीकार नहीं किया किन्तु ज्यों-ज्यों मैंने उससे दूर भागनेका प्रयत्न किया वह और भी अधिक आकर्षक रूपोंमें पीछा करती रही। और भी अधिक आकर्षक रूपोंमें पीछा करती रही। गोरखपुर आनेपर तो उसने अपना प्रभाव और भी तीव्र कर दिया। उसका आरम्भ हुआ 'रायसाहबी' की पदवीसे। इस पदवीके प्रस्तावक थे—गोरखपुरके तत्कालीन कलेक्टर—पेडले साहब और बाबू श्रीआद्याप्रसादजी नगरपालिकाके अध्यक्ष। मैंने उनसे हाथ जोड़कर क्षमा माँग ली—'मैं इसके लायक नहीं हूँ।' दोनोंसे ही बड़ा स्नेहका सम्बन्ध था। वे मेरे मनोभावोंको समझ गये और इस प्रकार इस प्रलोभनसे छुट्टी मिल गयी। इसके बाद वहाँके अंग्रेज कमिश्नर होबर्ट साहबने 'रायबहादुर' बनानेकी इच्छा प्रकट की। अनुरोध करनेपर वे भी मान गये। फिर संयुक्त प्रान्तके गवर्नर सर हैरी हेगने 'सर' का जाल फेंका; पर भगवान्‌ने रक्षा कर ली। गवर्नर साहबने इसपर प्रसन्नता व्यक्त की। मेरी सर हैरी हेगसे मैत्री थी। मैं उनसे मिला। उनसे बड़ा खुला सम्बन्ध था। मैंने बिना किसी प्रकारकी झिझकके उनसे पूछा—'आप यह उपाधि देकर क्या समझते हैं।' गवर्नर साहबने हँसते हुए जवाब दिया—'कुत्तेके गलेमें पट्टा डालते हैं ...।' वे अपना कथन पूरा कर ही न पाये थे कि मैं बीचमें ही बोल उठा—'फिर आप मेरे गलेमें पट्टा डाल रहे थे।' गवर्नर साहब हँसकर बोले—'आपने अस्वीकार कर दिया तब हम यह कहते हैं, नहीं तो हम सम्मान करते, आपको धन्यवाद देते कि आपने इसे स्वीकार कर लिया।'

'इसके बाद सबसे बड़ा प्रलोभन 'भारतरत्न' की उपाधिका आया। सम्मान्य पण्डित श्रीगोविन्दवल्लभजी पंतसे मेरा बहुत ही पुराना परिचय था। शरीर छोड़नेके कुछ पहलेकी बात है—वे गोरखपुर पधारे। उन दिनों वे भारतके गृह-मन्त्री थे। मैं

उनसे मिलनेके लिये गया। बड़ी ही आत्मीयतापूर्ण बातें हुई। इसी बीच श्रीपंतजीने एक कागज निकालकर मेरे सामने रखा और कहा—'हम इसे भारत-सरकारके पास भेज रहे हैं; आपकी स्वीकृति लेने आया हूँ। कागजमें 'भारतरत्न' की उपाधि प्रदान करनेका प्रस्ताव था। मैं काँप गया। भगवान्‌ने रक्षा की। मैंने बड़े ही विनम्र शब्दोंमें श्रीपंतजीको इसके कारण विस्तारसे समझाये। मेरे अन्तर्हृदयकी व्यथाको देखकर श्रीपंतजी मान गये और बोले—'ठीक है, हम आपकी भावनाओंका आदर करेंगे।' इसके पश्चात् उन्होंने दिल्ली जाकर मुझे एक लम्बा पत्र लिखा। उसकी बातें बतानेमें मुझे संकोच है।

'इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्षेत्रोंसे भी बड़े ही लुभावने प्रलोभन आये, पर भगवत्कृपाने 'उपाधि' की 'व्याधि' से सदा मेरी रक्षा की। सचमुच यह शरीर तो व्याधियोंका ही घर है; फिर स्वेच्छासे नयी 'व्याधि' क्यों स्वीकार की जाय?'

श्रीभाईजीके इस दैन्यभरे निवेदनको सुनकर अभिनन्दनका वह रूप नहीं रखा गया। फिर भी श्रीभाईजीके प्रवचनके पूर्व नगरपालिकाके अध्यक्षने उनके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कहीं और अन्तमें बोले—'विनयकी तो मानो श्रीभाईजी मूर्ति हैं।'

अध्यक्षके भाषणके पश्चात् श्रीभाईजीका प्रवचन आरम्भ हुआ। श्रीभाईजीने वन्दनाका श्लोक बोलकर कहा—'यहाँ उपस्थित आप सब ब्रजवासी महानुभाव, जिनकी चरण-रजका लाभ लेनेका भी मैं अधिकारी नहीं, नीचे बैठे हैं और मैं यहाँ स्टेजपर बैठ गया हूँ—वर्तमान प्रथा ही ऐसी है।'

'मैं यहाँ ब्रजमें किसी भावको लेकर आता हूँ। मेरे लिये वृन्दावनका प्रत्येक परमाणु आदरणीय-वन्दनीय है।'

'मैंने अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका विरोध किया है। सम्भव है, मेरी यह चेष्टा अधिक मान पानेका

प्रयास हो। मनुष्यके अन्दर एक छिपी कामना होती है—मान और बड़ाई पानेकी। बहुत बड़े-बड़े त्यागी-महात्मा, जो जगत्‌के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहने पर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर भी मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं—**'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।'** मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले। इनसे चित्तमें प्रसन्नता नहीं हुई होगी, यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानता है। आप सब आशीर्वाद दें—यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-प्रसन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो!

'महाभारतकी कथा है, जिसका सार यह है—'बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती; बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा कर देना उनकी हत्या है तथा अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना या अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना आत्महत्या है।''

'यदि मान-बड़ाईकी चर्चा सुनना मीठा न लगता तो पूजनीय श्रीब्रह्मचारीजी महाराज आज्ञा ही नहीं देते कि 'मैं चुपचाप सब स्वीकार करता रहूँ।' वास्तवमें मेरी निर्बलता ही इसमें हेतु है।'

'आपलोगोंने जो कुछ कहा, मैं उसे अपनी भावनाके अनुसार अपने लिये आशीर्वाद मानता हूँ। आप श्रीकृष्णके हैं।'

उपस्थित सभी श्रोता—जिनमें संत-महात्मा, विद्वान् भी थे, श्रीभाईजीके अन्तर्हृदयका परिचय प्राप्तकर मुग्ध हो गये।

प्रवचनके पश्चात् श्रीभाईजी सभा-मण्डपके बाहर आ रहे थे कि एक वृद्ध महात्मा सामने उपस्थित हुए। श्रीभाईजीने दोनों हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। वृद्ध महात्मा बड़े

भावभरे शब्दोंमें बोले—'महाशयजी! मैं वर्षोंसे 'कल्याण' पढ़ता हूँ और उसका मेरे जीवनमें बड़ा ही अद्भुत प्रभाव हुआ है। आपके दर्शन मैं आज प्रथम बार कर रहा हूँ। मेरे मनमें बराबर यह प्रश्न उठता था कि अन्य मासिक पत्रोंकी भाँति 'कल्याण' भी एक पत्र है; किन्तु उसका इतना चमत्कारिक प्रभाव क्यों है? वह बरबस जीवनमें कैसे परिवर्तन लाता है और हृदयको भगवद्विश्वास, भगवत्प्रेम आदिसे भर देता है? आज आपका प्रवचन सुनकर—आपका जीवन-व्यवहार देखकर मेरा समाधान हो गया कि उसके सम्पादक—कर्णधार नाम-रूपके मोहसे कितने दूर हैं; मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे उदासीन ही नहीं, किस प्रकार दूर भागते हैं; उनके व्यवहारमें, क्रियामें सत्य कितने विलक्षण रूपमें ओत-प्रोत है, उनकी कथनी-करनी-रहनीमें कैसी अनूठी एकरूपता है, वे कितने विनयशील हैं!'

वृद्ध महात्मा भावसे भरे अपने मनोभाव प्रकट कर रहे थे कि श्रीभाईजीका हृदय ग्लानिसे भर आया, नेत्र गीले हो गये और उन्होंने अपना मस्तक वृद्ध महात्माके चरणोंपर रख दिया!

निराशामेंसे आशाका प्राकट्य

लगभग २८ वर्ष पहलेकी घटना है। एक दिन रात्रिमें ८-९ बजे दो सज्जनोंने अचानक परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कमरेमें प्रवेश किया—एक पुलिसकी वर्दीमें थे और दूसरे अपने शरीरको सिरसे पैरतक कपड़ेसे ढँके हुए थे। श्रीभाईजी उस समय 'कल्याण'के प्रूफ देखनेमें संलग्न थे। दोनों सज्जनोंने श्रीभाईजीको प्रणाम किया। दोनोंका अभिवादन करते हुए श्रीभाईजीने उनसे बैठनेकी प्रार्थना की। अपना परिचय देते हुए पुलिसकी वर्दी पहने हुए सज्जनने कहा—'मैं गुप्तचर विभागमें काम करता हूँ और साथवाले सज्जन मेरे बड़े भाई हैं।' फिर उन्होंने बड़े ही संकोचके साथ कहा—'भाईजी!

मेरे भाई साहबके शरीरमें कुष्ठ-रोग हो गया है। ये एक अच्छे एडवोकेट हैं, परन्तु जबसे रोग हुआ है, इन्होंने अदालत जाना छोड़ दिया जाता है। कुष्ठ-रोग समाजमें बहुत ही घृणित माना जाता है और जिसे यह रोग हो जाता है, समाज उसका बहिष्कार कर देता है। भाई साहब इस रोगकी भीषणताके सम्बन्धमें जानते हैं; अतएव ये अब जीवन रखना नहीं चाहते। ये दिन-रात रोते रहते हैं और किसीसे मिलते-जुलते नहीं। भाईजी! आपकी महानताके विषयमें मैंने अपने कई मित्रोंसे सुना था। अतएव आज इन्हें बहुत समझा-बुझाकर अपने साथ लाया हूँ। ये अपना मुँह किसीको दिखाना नहीं चाहते; इसीसे ये अपना सम्पूर्ण शरीर कपड़ेसे ढँककर आये हैं।'

श्रीभाईजी बड़ी उत्सुकताके साथ ध्यानपूर्वक सब बातें सुन रहे थे। ऐसा लगता था, मानो वे अपने किसी निकटतम स्वजनके सम्बन्धमें कुछ सुन रहे हों। बातें सुनकर श्रीभाईजी भाई साहबकी ओर बढ़े और उनके कंधेपर अपना हाथ रखते हुए बोले—'भाई साहब! आप भी कुछ कहिये। आप मुँहपरसे कपड़ा हटा लीजिए और मुझे जरा देखने दीजिये कि रोगका स्वरूप क्या है?'

श्रीभाईजीकी इस आत्मीयता, प्यार तथा सबसे बढ़कर उनके शरीरके स्पर्शने भाई साहबके मन और प्राणोंको उद्वेलित कर दिया और वे फफक पड़े तथा उन्होंने श्रीभाईजीकी गोदमें अपना सिर रख दिया। श्रीभाईजीकी भी आँखें गीली हो गयीं और वे अपने कोमल हाथसे उनके मस्तकको सहलाने लगे। कुछ देर पश्चात् व्यथाका आवेग कम होनेपर भाई साहबने कहा—'भाईजी! अब इस जीवनको रखना नहीं है। अपने छोटे भाईके आग्रहसे आपके पास आया हूँ। यह मेरा प्रथम और अन्तिम प्रणाम है ....' इतना कहते-कहते भाई साहब पुनः सुबक-सुबककर रोने लगे। भाईजी बराबर उनके सिरपर हाथ

फेरते रहे। वातावरण बहुत ही गम्भीर हो गया।

थोड़ी देर बाद श्रीभाईजी बोले—'भाई साहब! आप इतने निराश क्यों होते हैं? सर्व-समर्थ एवं सर्व-सुहृद् भगवान्‌के रहते निराश होनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। वह प्रभु '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**' समर्थ है।' अतएव निराशाको दूर भगाइये।

श्रीभाईजीद्वारा इस प्रकार प्रबोध एवं आश्वासन प्राप्तकर भाई साहबका हृदय कुछ शान्त हुआ। वे बैठ गये और अपने मुँहपर पड़ा कपड़ा उन्होंने उठा लिया। श्रीभाईजीने बड़े ही गौरसे उनके मुखको देखा और बोले—'आप व्यर्थमें इतने भयभीत हो रहे हैं। रोग अभी प्रारम्भिक अवस्थामें है। फिर यह शरीर तो व्याधि मन्दिर है ही। एक व्याधि प्रकट रूपसे आपके सामने आ गयी तो क्यों घबराना चाहिये? हम वैद्यजीको बुलाते हैं, वे आपके लिये दवाकी व्यवस्था करेंगे। भगवान्‌ने चाहा तो कुछ ही दिनोंमें पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे। आपने अपना शरीर न रखनेकी जो बात कही, वह उचित नहीं। विष खाकर, अग्निमें जलकर, पानीमें डूबकर या किसी अस्त्र-शस्त्रका अपने ही ऊपर प्रहार करके जो व्यक्ति अपने शरीर और जीवनको जान-बूझकर नष्ट कर देते हैं, वे बड़े ही अभागे एवं दयाके पात्र है। मानव-शरीर भगवान्‌की प्राप्तिका साधन है और यह बड़े ही पुण्यसे भगवान्‌की विशेष कृपासे प्राप्त होता है। ऐसे दुर्लभ देहको नष्ट कर देना बड़ा भारी पाप है। आत्महत्यासे कष्टकी निवृत्ति नहीं होती। प्रारब्ध तो आगे भोगना पड़ेगा। मनुष्य जिस क्षणिक दुःख, शोक या मनस्तापसे मुक्त होनेके लिये आत्महत्या करता है, वह अनन्तगुना होकर अनन्त कालतक उसे परलोकमें कष्टदायक होता है। अतः आत्महत्या करनेकी बात मनमें ही नहीं लानी चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं। उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास करके चिकित्सा करवानी

चाहिये और साथ-ही साथ श्रद्धापूर्वक भगवान्‌से करुण प्रार्थना करनी चाहिये।'

'आपकी पुकार सच्ची होगी तो भगवान् उसे अवश्य सुनेंगे। ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो भगवान्‌की कृपासे न हो सके। अतएव मेरी बातपर विश्वास करके आप स्वयं अपने मनसे अपनी ही करुण भाषामें सर्वशक्तिमान्, सर्वसुहृद भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। विश्वासपूर्वक की हुई प्रार्थनासे मानस तथा शारीरिक—सभी प्रकारके रोगोंका नाश हो सकता है। 'साइंस आव थॉट रिव्यू' नामक इंग्लैण्डके एक मासिक पत्रमें श्रीगिल्बर्ट हेनरी गेज नामक सज्जनने लिखा था—'जर्मनीके एक आदमीको 'शैशविक पक्षाघात' (Polio) का रोग जन्मके पहले ही वर्षमें हो गया था। फलतः उनके दोनों पैर लकवेसे बेकार हो गये। उसके लिये प्रार्थना की गयी। चार महीनेके बाद समाचार मिला कि उसके पैरमें नवीन शक्ति आ गयी है। ४८ सालसे जो मांसपेशियाँ मरी हुई थीं, वे सक्रिय हो गयीं। उनका जीवन सब चिन्ताओंसे मुक्त, भगवद् विश्वासपूर्ण और प्रफुल्लित हो गया।'

'पुरानी बात है—कलकत्तेमें एक प्रसिद्ध व्यवसायीको प्लेग हो गया। १०४-५ डिग्री बुखार था और दोनों जाँघोंमें बड़ी-बड़ी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। कलकत्तेके सबसे बड़े डाक्टरने उन्हें देखकर कह दिया—'बचनेकी आशा बिल्कुल नहीं है; परन्तु भगवान्‌पर उनका विश्वास था। उन्होंने कमरा बन्द करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने स्थापित कर ली और श्रीकृष्णमें मन लगाकर 'हरि शरणम्' मन्त्रका जप करने लगे। भगवान्‌की कृपासे प्रातःकाल होते वे बिल्कुल स्वस्थ हो गये और वर्षों जीवित रहे।

'इस प्रकारकी और भी अनेक घटनाएँ मैंने अपने जीवनमें तथा दूसरोंके जीवनमें घटते देखा है। कैंसर, टी०बी०

आदि रोग भी प्रार्थनाद्वारा चमत्कारिक रूपमें ठीक हुए हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌की प्रार्थनासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अतएव आप मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये तथा मन-ही-मन 'हरि शरणम्' मन्त्रका जप कीजिये।'

श्रीभाईजीकी बातें भाई साहबने बड़ी ही उत्सुकता एवं श्रद्धाके साथ सुनी। उनके हृदयमें आशाका संचार हो गया। श्रीभाईजीने जब बोलनेसे विराम लिया, तब उन्होंने कहा— 'भाईजी! आपके प्यार, स्नेह और आत्मीयताने मुझे अभिभूत कर लिया है। आपने भगवान्‌के सौहार्द एवं सामर्थ्यकी जो बातें कही हैं, उनपर मेरा विश्वास जमा है। अब मैं जीवनसे निराश नहीं हूँ। आप जो दवाकी व्यवस्था करेंगे, मैं उसे विश्वासपूर्वक लूँगा और मन-ही-मन आपके बताये अनुसार भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा।'

भाई साहबके मुखसे आशाभरे शब्द सुनकर पुलिस अधिकारी प्रफुल्लित हो गये। दोनों भाइयोंने श्रीभाईजीको प्रणाम किया और उनसे विदा ली।

दूसरे दिन श्रीभाईजीने स्थानीय प्रसिद्ध वैद्यराजजीको बुलवाया और उनसे आयुर्वेदिक दवाकी व्यवस्था करवायी। उस समयतक 'सल्फोन' नामक ऐलोपैथिक दवाका, जिससे कुष्ठरोगका निर्मूलन सम्भव है, प्रचलन नहीं हुआ था। भाई साहब वह दवा लेने लगे। असली दवा तो ***भगवान्‌से विश्वासपूर्वक करुण प्रार्थना एवं उनके नामका जप था;*** वे दोनों बराबर चलते रहे। कुछ महीनोंमें भाई साहब बिल्कुल स्वस्थ हो गये और अदालतमें कार्य करने लगे।

इस घटनाने श्रीभाईजीके कोमल हृदयको कुष्ठरोगसे पीड़ित भाई-बहनोंकी सेवाके लिये भी कुछ करनेके लिये प्रेरित किया। संयोगसे कुछ ही दिनों पश्चात् प्रसिद्ध समाज-सेवी बाबा राघवदासजीने गोरखपुरमें 'कुष्ठ-सेवाश्रम'की स्थापनाका निश्चय

किया और श्रीभाईजी उनके अन्यतम सहयोगीके रूपमें उनके साथ हो गये। आश्रमकी स्थापनाके कुछ मास बाद पूज्य बाबाजी संत श्रीविनोबाजीके भूदान-कार्यमें लग गये और कुष्ठ-सेवाश्रमका पूरा उत्तरदायित्व श्रीभाईजीपर ही आ गया। अपने अत्यन्त व्यस्त जीवनमें-से भी समय निकालकर श्रीभाईजीने इस कार्यको ऐसे सुन्दर ढंगसे आगे बढ़ाया कि आज गोरखपुरका कुष्ठ-सेवाश्रम देशकी महत्वपूर्ण कुष्ठ-सेवा-संस्थाओंमें है और हजारों-हजारों निराश भाई-बहनोंको वह आशा एवं जीवन प्रदान कर रहा है।

मृत व्यक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण करना परमावश्यक है

घटना पुरानी है। अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओंके ज्ञाता एक सज्जन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास आये। श्रीभाईजीने उनका बड़े ही आदरके साथ स्वागत किया। अपने आनेका हेतु बतलाते हुए वे सज्जन बोले— 'महाशयजी! मैं 'कल्याण' बड़े चावसे पढ़ता हूँ, किन्तु उसमें लिखी एक विशेष बातसे मेरी सहमति नहीं है। आपके लेखोंमें मैं बराबर पढ़ता रहता हूँ कि 'मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि अवश्य करने चाहिये।' इस विषयमें आपका आग्रह देखकर मेरे मनमें कई बार खीझ भी हुई है और मैंने अपने मित्रोंसे यहाँतक कहा है कि 'श्रीहनुमानप्रसादजी शायद ब्राह्मण हैं, तभी वे श्राद्ध आदिके लिये इतने आग्रहके साथ लिखते हैं।' मैं गोरखपुर किसी कार्यसे आया था। मनमें आया, अपने असंतोषको आपके सामने व्यक्त करूँ, सम्भव है, आप मेरी बात मानकर भविष्यमें इस प्रकारकी बातें 'कल्याण' में नहीं लिखेंगे। मैं मृत पुरुषोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि सर्वथा व्यर्थ समझता हूँ।'

श्रीभाईजीने आगन्तुक सज्जनकी बातें बड़े ही शान्तभावसे

सुनी और अपनी सहज प्रसन्न मुद्रामें वे उनसे बोले—'आपने दर्शन दिये, बड़ी कृपा की। मैं ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न नहीं हूँ। 'पोद्दार' मारवाड़ी वैश्योंका एक वर्ग है; मेरा जन्म वैश्य जातिमें हुआ है। रही श्राद्ध-तर्पणके विषयकी बात, सो मैं उसे सर्वथा उचित एवं आवश्यक मानता हूँ और इसीलिये उसके सम्बन्धमें 'कल्याण'में आग्रहपूर्वक लिखता हूँ। मैं इस बातका विशेष ध्यान रखता हूँ कि 'कल्याण'द्वारा ऐसी ही मान्यताओंका प्रचार हो, जिनके विषयमें शास्त्रों और संतोंका आदेश हो एवं मान्य व्यक्तियोंका अनुभव हो।'

आगन्तुक सज्जनने श्रीभाईजीके स्पष्टीकरणको सुना और उत्तेजित होकर बोले—'ठीक है, दूसरोंके अनुभवके आधारपर आप किसी मान्यताका समर्थन कर सकते हैं, पर उसकी भाषा ऐसी होनी चाहिये, जिसमें पुनर्विचारकी गुंजाइश हो। आप श्राद्ध-तर्पणके लिये जिस आग्रहपूर्ण भाषामें लिखते हैं, उस रूपमें अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर ही लिखना चाहिये; बिना व्यक्तिगत अनुभवके वैसी भाषाका प्रयोग सर्वथा अनुचित है। आप जैसे वयोवृद्ध विद्वान् सम्पादकके लिये यह शोभनीय नहीं है।'

श्रीभाईजी उन सज्जनके रोषभरे शब्दोंको स्थिरचित्तसे सुनते रहे। बात पूरी होनेपर उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़ लिये और उन सज्जनसे बोले—'महाशयजी! आपका कहना सत्य है, पर मैं 'कल्याण'में किसी बातके लिये आग्रहपूर्ण तभी लिखता हूँ, जब मेरे पास उसकी सत्यताके ठोस प्रमाण हों। श्राद्धके सम्बन्धमें मेरे पास ऐसा ठोस प्रमाण है कि उसके समक्ष मैं किसीकी भी बात माननेको तैयार नहीं हूँ। मैं उस ठोस प्रमाणको सार्वजनिक रूपसे प्रकट करनेमें संकोच अनुभव करता हूँ। यही कारण है कि आजतक मैंने उसके सम्बन्धमें कभी 'कल्याण'में कुछ भी नहीं लिखा। पर आज जब आप

इतने स्पष्ट रूपमें मेरी मान्यताको असत्य बता रहे हैं, तब मैं उसे आपके सामने स्पष्ट कर रहा हूँ। आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मेरे जीवनकालमें आप इसे अन्य किसी व्यक्तिके समक्ष व्यक्त न करें। आजके युगमें इस प्रकारकी घटनायें बताकर अनेक व्यक्ति समय-समयपर अपना स्वार्थ साधते रहते हैं और इसी कारण लोगोंका ऐसी घटनाओंके सम्बन्धमें जल्दी विश्वास नहीं होता।'

श्रीभाईजीके इन तथ्यपूर्ण शब्दोंका उन सज्जनपर बड़ा प्रभाव हुआ। वे बोले—'श्रीभाईजी! मेरा विश्वास है कि आप सत्यनिष्ठ व्यक्ति हैं; आप कभी भी झूठका आश्रय नहीं ले सकते। अतएव आप जो कहेंगे, उसपर मेरा अटल विश्वास होगा। आप निःसंकोच अपना अनुभव सुनाइये।'

श्रीभाईजीने कहा—'सन् १९२५ के आस-पासकी बात है। मैं उन दिनों बम्बईमें व्यापार करता था। सायंकाल भोजन करनेके पश्चात् लगभग आठ बजे घरसे निकल जाता था और चौपाटी-स्टैंडमें जो बहुत-सी बेंचे पड़ी रहती थीं, वहाँ बैठकर नाम-जप एवं भगवच्चिन्तन किया करताथा। वह स्थल बिलकुल एकान्त था तथा प्रकाश अधिक न रहनेसे वहाँ अँधेरा-सा रहता था। यह मेरा प्रतिदिनका काम था। एक दिन मैं एक बेंचपर पैर फैलाकर बैठा था और नाम-जप कर रहा था। अचानक मेरी बेंचके ठीक सामने मेरे पैरोंकी तरफ एक पारसी सज्जन खड़े दिखायी दिये। वे सफेद कपड़े पहने हुए थे। पारसियोंमें जो पुराहित होते हैं, वे विशेष प्रकारकी पोशाक पहनते हैं। वे वैसी पोशाक पहने हुए थे। मैं अपना नाम-जप करता रहा और वे सज्जन सामने खड़े रहे। वे बहुत देरतक उसी रूपमें खड़े रहे, पर मैं चुप रहा और नाम-जप करता रहा। बहुत देर होनेपर मेरे मनमें आया कि 'एक भले आदमी सामने खड़े हैं और इन्हें इसी प्रकार खड़े बहुत देर हो गयी है; अतएव

इनको बैठनेके लिये कह दिया जाय।’ ऐसा विचार आते ही मैंने उनसे कहा—‘साहेबजी! आप बैठ जाइये। खड़े-खड़े आपको बहुत देर हो गयी।’ मेरे इतना कहनेपर वे बोले—‘आप डरियेगा नहीं, मैं प्रेत हूँ।’ उन सज्जनने ज्यों ही अपनेको ‘प्रेत’ बतलाया, मैं भयभीत हो गया; मुझे पसीना हो आया। वे समझ गये कि मैं डर रहा हूँ। उन्होंने फिर कहा—‘आप डरिये नहीं, मैं आपका अनिष्ट नहीं करूँगा। मैं तो आपको धर्मात्मा पुरुष मानकर सहायताकी याचना करने आया हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये, आपका मंगल होगा।’ उनके इस आश्वासनसे मैं कुछ आश्वस्त हुआ। पीछे उन्होंने कहा—‘यदि आप मुझसे पहले बात नहीं करते तो मैं बोल नहीं पाता; क्योंकि मुझमें यह शक्ति नहीं है कि बिना किसीके पहले बात किये मैं अपनी ओरसे इस जगत्‌के लोगोंसे बोल सकूँ। यही हेतु है कि मैं इतनी देर प्रतीक्षा करता रहा कि आप बोलें। प्रेतलोकमें अनेक स्तर हैं। प्रेतोंके अनेक प्रकारके अधिकार हैं, उनकी विभिन्न शक्तियाँ हैं। कोई प्रेत सभी जगह आ-जा सकते हैं, कोई नहीं आ-जा सकते। कोई अनेक काम कर सकते हैं, कोई नहीं कर सकते। जैसे इस लोकमें मनुष्योंके अलग-अलग अधिकार हैं, शक्तियाँ हैं, बल हैं, वैसे ही वहाँपर हैं। मैं प्रेतयोनिमें हूँ। मैं सब जगह जा सकता हूँ, सबको दिखायी दे सकता हूँ, पर मुझसे पहले कोई बोले नहीं तो मैं बोल नहीं सकता। मैं पारसी हूँ, पर मेरी हिन्दूशास्त्रोंमें श्रद्धा है। मेरी मृत्यु अभी हालमें ही हुई है। प्रेतलोकमें मेरी स्थिति अच्छी नहीं है। आप कृपा करके किसीको गया (बिहारका एक प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ) भेजकर मेरे लिये पिण्डदान करवा दें तो मेरी सद्‌गति हो जायगी। मैंने उनसे प्रश्न किया—‘गयामें हिन्दुओंके द्वारा श्राद्ध किया जाता है। आप पारसी हैं, आपलोग श्राद्धपर विश्वास नहीं करते, फिर श्राद्ध करानेकी बात कैसे कहते हैं?’’

प्रेतने उत्तर दिया—'सत्य यदि सत्य है तो वह जाति-सापेक्ष नहीं है। भिन्नता जातिमें होती है। जाति तो यहाँके व्यवहारको लेकर है, जीवमें जातिका भेद नहीं होता। जीवमें पारसी, हिन्दू, ईसाईका सवाल नहीं। जिस जीवको प्रेत बनना होता है, वह बनता ही है।'

"पीछे तो मैंने उनसे बहुत-सी बातें पूछीं—जैसे प्रेतलोककी स्थितिके सम्बन्धमें, वहाँके जीवनके सम्बन्धमें, कर्मोंके फलके बारेमें आदि-आदि। उन्होंने सब बातोंका सविस्तार उत्तर दिया। अब मैं उन बातोंमेंसे अधिकांशको भूल गया हूँ। पर मुख्य बात मुझे स्मरण है। उन्होंने बताया—'किसीके प्रति बैर लेकर मरनेवालोंकी बहुत दुर्गति होती है; उसे नरकोंमें बड़ा कष्ट होता है।' मैंने उनसे पूछा—'क्या नरक सत्य है?' वे बोले—'हाँ, सब सत्य है।' फिर उन्होंने कहा—'जीवनमें किसीके प्रति द्वेष रहा हो तो मरनेसे पहले उससे क्षमा माँग ले तथा अपने मनसे उसके प्रति वैरभावका त्याग कर दे। जो धनके लिये किसी दूसरेकी हत्या करता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है। किसीको आश्वासन देकर न देनेवालेकी भी दुर्गति होती है। व्यभिचारीकी भी बड़ी दुर्गति होती है।"

उन्होंने यह भी बताया कि 'प्रेतलोकके प्राणियोंके लिये अन्न-जल-वस्त्रादिका दान उनके नामपर घरवालों एवं मित्रोंको सदा करते रहना चाहिये। वहाँ उनके अन्दर वासना होती है, जो यहाँ दान देनेसे ही पूर्ण होती है। प्रेतोंके उद्धारके लिये तथा उनको सद्गतिकी प्राप्ति करानेके लिये श्राद्ध एवं पिण्डदान, गया-श्राद्ध, अपने-अपने धर्मानुसार भगवान्‌की प्रार्थना करने आदिसे उन्हें बहुत लाभ होता है।'

'और भी बहुत-सी बातें उन्होंने बतायीं। फिर उन्होंने अपने बम्बईके स्थानका नाम-पता बतलाया। इतना वार्तालाप करनेके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये। मैं घर लौट आया। दूसरे

दिन उनके कथनानुसार मैंने उनका पता लगाया। बम्बईके बाँद्रा नामक अञ्चलमें वे रहते थे। छः महीने पहले उनकी मृत्यु हुई थी। उनका नाम आदि सब मिल गया। वे पारसी होनेपर भी गीता पाठ किया करते थे। सब बातोंका ठीक-ठीक पता लग जानेपर मैंने अपने पास रहनेवाले एक ब्राह्मणको, जिनका नाम श्रीहरिराम था, उनका गयामें श्राद्ध एवं पिण्डदान करनेके लिये भेजा। श्रीहरिरामने गयामें जाकर उन पारसी सज्जनका पिण्डदान और श्राद्ध किया। जिस दिन पारसी सज्जनका पिण्डदान हुआ, उसी दिन चौपाटीमें ही उन पारसी सज्जनके फिर दर्शन हुए और उन्होंने कहा—'मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आया हूँ। आपने मेरा काम कर दिया। अब मैं प्रेतलोकसे उच्चलोकमें जा रहा हूँ।' मुझे उनकी बात सुनकर बड़ा संतोष हुआ।'

'युवावस्थामें मैं श्राद्ध-तर्पण आदिपर थोड़ा संदेह करने लगा था—सुधारवादियोंके साथ रहनेके कारण ही इस प्रकारकी वृत्ति हो चली थी। पारसी प्रेतसे मिलने तथा उससे वार्तालाप होनेके पश्चात् श्राद्ध-तर्पणपर मेरी दृढ़ आस्था हो गयी। इस घटनाके पश्चात् इस सम्बन्धमें भगवत्कृपासे अन्य सूत्रोंसे भी मुझे पर्याप्त नयी-नयी सत्य जानकारी प्राप्त हुई। उन सब बातोंको बतानेमें मुझे संकोच है—कृपया क्षमा कीजियेगा। बस इतना विश्वास कीजियेगा कि परलोकके सम्बन्धमें तथा मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि करनेके सम्बन्धमें हमारे शास्त्रोंमें जो-जो बातें मिलती हैं, वे ऐसी हैं, मानो ऋषियोंने उन लोकोंकी स्थितिको प्रत्यक्ष देख-देखकर लिखा हो। ऐसी बात नहीं है कि रोचक और भयानक बातें बताकर लोगोंको अच्छे काममें लगानेके लिये उन्होंने ऐसा किया हो। अतएव मृत व्यक्तियोंके लिये श्राद्ध-तर्पण, पाठ-पूजा, दान आदि अवश्य करने-कराने चाहिये। '

श्रीभाईजीकी बातें जिज्ञासु सज्जन बड़ी ही उत्सुकतासे

सुनते रहे। पूरी बात सुननेपर उनका हृदय भर आया और उन्होंने अपना मस्तक श्रीभाईजीकी गोदमें रख दिया और बोले—'महाशयजी! आज आपने मुझे अपने प्यारसे खरीद लिया। हमारे शास्त्र इतने सत्य हैं, यह मैं कभी कल्पना नहीं कर सकता था। आज मेरी श्राद्ध-तर्पणपर श्रद्धा जम गयी है। अब मैं अपने पूर्वजोंके लिये श्राद्ध-तर्पण, दान-पुण्य आदि अवश्य करूँगा तथा स्वजनों-मित्रोंको भी इसके लिये प्रेरित करूँगा। प्रेतने जिन हेतुओंसे दुर्गति होनेकी बात कही है, उनके सम्बन्धमें मैं जीवनमें विशेष सावधान रहूँगा।'

हिन्दुस्तानी कम्युनिज्म

१६ जुलाई, १९६५ की बात है—गीताप्रेसके सभी विभागोंके प्रधान कर्मचारी परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास अपनी माँगे लेकर गये। श्रीभाईजीने सबको नमस्कार किया तथा बड़े आदरसे बैठाया। सबने कहा—'भाईजी! हम आपके दर्शन करने आये हैं; अपनी माँग बताने नहीं आये हैं। जो जीवनके आरम्भसे गरीबोंके आँसू पोंछते आया है, जिसके यहाँसे प्रतिदिन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षमें अनेकों गरीबोंकी सहायता होती रहती है, उस व्यक्तिसे हम अपनी माँग क्या कहें? गरीबोंके दु:ख दर्दको जितना आप जानते हैं, हम उससे अधिक और क्या कहेंगे? बस, हम आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गये। आप अपनी ओरसे जो करेंगे, वह हमारी माँगसे अधिक ही होगा और उससे हमें पूर्ण संतोष होगा?'

श्रीभाईजीने कहा—आप अपनी-अपनी कठिनाइयाँ कहें; संकोच न करें। देखें, गीताप्रेस किसी व्यक्तिकी चीज नहीं है; वह तो भगवान्‌की चीज है, भगवानका काम है। भगवान्‌की मंगलमयी इच्छा एवं शक्तिसे गीताप्रेसकी स्थापना हुई, उसका विकास हुआ और आज वह इतने व्यक्तियोंकी सद्‌भावनाकी

वस्तु बना हुआ है। भगवान्‌की वस्तु सबकी होती है। गीताप्रेस मकान और मशीनोंका नाम नहीं है; आपलोग प्रेसके हैं, प्रेस आपका है। प्रेस जितना हमारा है, उतना ही आपका भी—एक-एक कर्मचारीका है। वास्तवमें तो यह भगवान्‌का है। रही कष्टकी बात, आपलोगोंका कष्ट हमारा ही कष्ट है।

कर्मचारी श्रीभाईजीकी बात सुनकर आप्यायित हो गये। उनका हृदय भर आया। सबने कहा—'भाईजी! अब हम कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। आप जो करेंगे, वहीं हमारे लिये हितप्रद होगा।' इतना कहकर सबने श्रीभाईजीसे विदा ली।

कर्मचारियोंके जानेके बाद प्रेसके अधिकारी लोग श्रीभाईजीसे मिलनेके लिये आये। श्रीभाईजीने अधिकारियोंसे कर्मचारियोंके आने तथा उनसे हुई बातकी चर्चा की और कहा—'आप देखते हैं, कर्मचारियोंका कष्ट वास्तवमें सच्चा है—समय कितना कठिन है। बेचारे भूखे हैं। दूसरे प्रेसोंसे अपने प्रेसका वेतन-स्केल अच्छा है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अपना स्केल 'अच्छा' है। हमलोग अपनी ओरसे अपने कर्मचारियोंका पे-स्केल और भी अच्छा बनायें—एक 'आदर्श' स्थापित करें। यह प्रस्ताव मैं कई बार लिखित रूपमें ट्रस्ट-बोर्डके समक्ष रख चुका हूँ और अब भी उसके लिये कहता हूँ। मैं कोई बात किसीपर लादना नहीं चाहता। सबकी रायसे ही—ट्रस्टकी आर्थिक स्थितिके अनुरूप ही काम होना चाहिये।'

इसके पश्चात् श्रीभाईजी कुछ भावावेशमें आ गये और बोले—'मैं तो मनसे 'हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट' हूँ। राग-द्वेषसे पैसेवालोंको खतम करना नहीं चाहता, प्रेमपूर्वक गरीबोंका पेट भरना चाहता हूँ।'

अधिकारी लोग अवाक्-से हुए श्रीभाईजीकी बातें सुनते रहे। अधिकारियोंके जानेके पश्चात् श्रीभाईजीकी सेवामें रहनेवालोंमें एक पढ़े-लिखे व्यक्तिने कहा—'बाबूजी! आज तो मैंने आपके

मुखसे एक नया शब्द सुना—‘हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट’। ‘कम्युनिस्ट’ शब्दसे जो समझा जाता है, क्या ‘हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट’ उससे भिन्न अर्थका द्योतक है?

श्रीभाईजी सेवककी बात सुनकर बोले—‘भैया! ‘कम्युनिज्म’ शब्दका अर्थ व्यापक है। संक्षेपमें, इस विचारधारामें समाजमें सभी व्यक्तियोंके लिये भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा आदिकी समान व्यवस्थापर मुख्य रूपसे बल दिया जाता है। इस प्रकार यह विचारधारा स्पृहणीय है; किन्तु पाश्चात्त्य देशोंका कम्युनिज्म धनीवर्गके प्रति असंतोष, घृणा, प्रतिहिंसा आदिकी भावनासे पनपा है, जहाँ हमारे देशमें यह सम्पन्न व्यक्तिके स्वेच्छाप्रेरित उत्सर्ग, त्याग एवं बलिदानपर आधारित था। श्रीमद्भागवत (७/१४/८)में कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

‘जितने धनसे प्राणीकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर ही उसका अधिकार है। जो उससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह ‘चोर’ है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।’ ये शब्द पाश्चात्य देशके कम्युनिज्मका प्रचलन करनेवाले ‘लेनिन’ या ‘मार्क्स’ के नहीं हैं, ये हमारे देशके महान् ऋषि देवर्षि नारदके वचन हैं। हमारे इस आदर्शकी छायाको भी आजका कम्युनिज्म छू नहीं सकता। इतना ही नहीं, भगवान्‌ने गीता (३/१३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं, वे ‘पाप’ ही खाते हैं।

‘अपने यहाँ सारे जगत्‌को उसका हिस्सा देकर शेष अन्न

खानेवालेको 'अमृताशी' कहा गया है। श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद्भागवद्गीताके इस त्यागपूर्ण आदर्शको आजकी विचारधाराके शब्दोंमें मैं 'हिन्दुस्तानी कम्युनिज्म' कहता हूँ, और जो इस विचारधारापर विश्वास रखता हो, वह 'हिन्दुस्तानी कम्युनिस्ट' है। मैं मनसे ऐसा मानता हूँ कि जिस देशमें लाखों लोग भूखों मरें, वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, कुछ लोग अधिक खाकर बीमार पड़ें, यह पाप है। सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये। 'उसके भाग्यमें बदा नहीं है, इसलिये वह अभावसे ग्रस्त हैं'—यह उसके (अभावग्रस्तके) माननेकी बात है, समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोंके माननेकी नहीं। जो सम्पन्न हैं, वे अभावग्रस्तोंको दें, अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोंके लिये उदार बनें। धन किसीके पास रहेगा नहीं। सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी। वास्तवमें सम्पत्तिवान्‌की सम्पत्ति गरीबोंसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर ऋणको ब्याजसहित चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिवान्‌का कर्तव्य है।'

—बस, यही मेरी दृष्टिमें 'हिन्दुस्तानी कम्युनिज्म' है। यदि हम भारतवर्षवासी इस प्राचीन पावन परम्पराका कुछ भी अंश जीवनमें उतार लें तो देशमें कोई भी भूखा और नंगा न रहे। पर .....

—यों कहते-कहते श्रीभाईजीका हृदय देशके असंख्य भूखे-नंगे भाई-बहनोंकी दयनीय दशाका विचारकर द्रवित हो गया। सेवक तथा पासमें बैठे हुए अन्य व्यक्तियोंकी भी आँखें उनकी स्थिति देखकर गीली हो गयीं।

उपदेशक—सेवक

बात पुरानी है। गीतावाटिकाके श्रीराधाष्टमी-पण्डालमें परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका प्रवचन हो रहा

था। उन दिनों उत्तरप्रदेशके पूर्वी जिलोंमें भीषण अकालकी स्थिति थी। 'गीताप्रेस-सेवादल'के तत्त्वाधानमें श्रीभाईजीने सेवाकार्य आरम्भ कर दिया था। अन्न, वस्त्र आदिसे अकालपीड़ितोंकी सेवा हो रही थी। स्वास्थ्य ढीला रहनेपर भी श्रीभाईजी स्वयं अकालग्रस्त क्षेत्रोंका निरीक्षण करने जाया करते थे। श्रीभाईजीका हृदय भूखे नर-नारियों एवं पशुओंकी दयनीय दशासे बहुत पीड़ित था। संयोगसे उस दिन कलकत्ता-बम्बईसे कुछ धनी-मानी व्यक्ति श्रीभाईजीसे मिलने तथा अपने परिवार एवं कारोबारके सम्बन्धमें परामर्श लेनेके लिये आये हुए थे। श्रीभाईजीने प्रवचन आरम्भ किया—

'भक्त नरसी मेहताका एक पद है, जो पूज्य बापू (महात्मा गाँधी)को बहुत प्रिय था—'

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे, तेने मन अभिमान न आणे रे॥

—सचमुच 'वैष्णव'—भगवान्‌का प्यारा वही है, जो दूसरेके दुःखको अनुभव करता है, उसे दूर करनेके लिये अपनी शक्तिभर प्रयत्न करता है। जगत्‌में किसी भी व्यक्तिके पास जो कुछ है, सब भगवान्‌का है और भगवान्‌की सेवाके लिये ही है। इसी प्रकार सबमें भगवान् हैं—समस्त जीवोंके रूपमें भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। अतएव भगवान्‌के जिस रूपको, जब भी, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो और वह यदि हमारे पास हो तो भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌के अर्पण है—इस भावसे बिना अभिमानके नम्रतापूर्वक उसे अर्पण कर देना चाहिये।

—इसी भावको श्रीभाईजीने अपने प्रवचनमें विस्तारसे समझाया। श्रोतागण बड़े ध्यानसे श्रीभाईजीकी बातें सुन रहे थे। प्रवचनकी समाप्तिपर शहरसे आये हुए लोग चले गये। कलकत्ते-बम्बईसे आये हुए बन्धुओंने श्रीभाईजीको घेर लिया। इसी बीच

फटे-मैले कपड़ोंमें एक युवक श्रीभाईजीके समक्ष आकर खड़ा हो गया। दीन-हीन युवकको देखते ही श्रीभाईजीका ध्यान उन धनी बन्धुओंकी ओरसे हट गया और उन्होंने उस युवकसे पूछा—'भैया! कहाँ रहते हो? कैसे आये हो?' श्रीभाईजीके ये शब्द इतने प्यार भरे थे कि युवक एक शब्द भी बोल न पाया; उसकी आँख झरने लगीं। बस, श्रीभाईजीका परदुःखकातर हृदय द्रवित हो गया। वे तुरंत उठ खड़े हुए और उस युवकके पास जाकर उन्होंने अपना बायाँ हाथ उसके दाहिने कंधेपर रख दिया और दाहिने हाथसे वे उसके सिरको सहलाने लगे। इस अप्रत्याशित स्नेहको पाकर युवकका हृदय और भी भर आया; अब वह सुबक-सुबककर रोने लगा। श्रीभाईजी उसी प्रकार उसके सिरको सहलाते रहे। कुछ देरमें दुःखका आवेग जब कम हुआ, तब श्रीभाईजीने युवकसे पूछा—'भैया! इतने रोते क्यों हो?''

'बाबू! दो दिनसे खानेको नहीं मिला है। घरमें वृद्ध माता-पिता तथा छोटे भाई बहन भूखे हैं। सर्दीके दिन हैं। शीत निवारणके लिये कोई कपड़ा नहीं है। बहन सयानी हो गयी है, अपनी लाज बचानेके लिये उसके पास लूगा—वस्त्र नहीं है। वर्षा न होनेसे खेतमें कुछ भी अनाज नहीं हुआ। बाप-दादोंकी इज्जत है; किसीसे अपना दुःख कह भी नहीं सकते। आपका नाम सुनकर आपकी शरणमें आया हूँ....।' किसी प्रकार अपनेको सँभालकर युवकने अपना दुःख श्रीभाईजीके समक्ष रक्खा।

श्रीभाईजी युवकको सान्त्वना देने लगे और उसका हाथ पकड़कर वहीं दरीपर बैठ गये। बाहरसे आये हुए धनी-बन्धु यह सब देखकर विस्मित थे कि उन लोगोंकी ओरसे सर्वथा उपराम होकर किस प्रकार श्रीभाईजीने अपना ध्यान उस दीन-हीन युवकपर केन्द्रित कर दिया।

श्रीभाईजीने अपने सेवकको आदेश दिया—'इस भाईको अपने साथ ले जाओ। इसे धोती-कुर्ता दे दो और कुएँपर इसे स्नान करवा दो।'

सेवक युवकको लेकर चला गया। श्रीभाईजी वहीं पण्डालमें बैठे रहे। थोड़ी देरमें युवक स्नान करके नये वस्त्र पहनकर श्रीभाईजीके पास आ गया। श्रीभाईजीने अपने घरसे नाश्ता और दूध मँगवाया और अपने समक्ष उस युवकको ग्रहण करवाया। युवक दूध पीता जा रहा था और बार-बार अपनी आँखें पोंछ रहा था। वह देख रहा था—किस प्रकार पाँच-सात श्रीमन्तोंसे घिरे हुए श्रीभाईजी सबकी ओरसे उपराम होकर केवल उसकी ही सँभाल कर रहे थे।

इसी बीच श्रीभाईजीने अपने एक साथीको अपनी धर्मपत्नीके पास भेजा और युवकके परिवारवालोंके लिये कई साड़ी, धोती तथा कुर्ते एवं लहँगेका कपड़ा और ३-४ कम्बल मँगवाये। युवकको सब सामान सौंपते हुए श्रीभाईजीने अन्नके लिये पर्याप्त रुपये भी उसे दिये। इसके पश्चात् एक रिक्शा मँगवाया और उसपर युवकको बैठाकर विदा किया। जब रिक्शा चलने लगा, श्रीभाईजीने कहा—'भैया! आज तो तुम जाओ, पीछे फिर आना। मैं ऊपर कमरेमें होऊँ तो तुम इस भाईसे (सेवककी ओर संकेत करते हुए) मिल लेना। यह मुझे तुम्हारे आनेकी सूचना कर देगा। रोना मत, घबराना मत, भगवान् सब व्यवस्था कर देंगे।'

युवकको विदा करनेके पश्चात् श्रीभाईजी बाहरसे पधारे हुए बन्धुओंसे बोले—'क्षमा कीजियेगा, आप लोगोंका एक घंटा मैंने बर्बाद कर दिया। परन्तु क्या करूँ, किसी दु:खी प्राणीको देखकर मैं अपनेको सँभाल नहीं पाता। आस-पासके कुछ गाँवोंकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही है। मैं स्वयं वहाँ जाकर देखकर आया हूँ। वहाँकी देशा देखकर मनुष्यको

बरबस रो देना पड़ता है। आज देशमें अभी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो बहुत सुखसे खाते-पीते हैं और वे चाहें तो बहुतोंके पेटेकी ज्वाला मिटा सकते हैं। खाने-पहननेके पदार्थ तथा घास-चारा आदि कीमत देनेपर काफी परिमाणमें मिल सकते हैं। ऐसा होते हुए भी आज हजारों-लाखों नर-नारी एवं पशु अन्न और चारे-दानेके बिना परेशान हैं—कुछ मर भी रहे हैं—यह बहुत ही व्यथाकी बात है। मैं तो कमजोर व्यक्ति हूँ, अपनी दशा क्या कहूँ! जब खाने बैठता हूँ और अपने सामने थालीमें घीसे चुपड़ी हुई रोटियाँ तथा कई तरहकी सब्जियाँ देखता हूँ तो मेरी आँखें गीली हो जाती हैं और भोजन अच्छा नहीं लगता; पर घरवालोंसे मैं इस स्थितिको छिपा लेता हूँ। इसी प्रकार रातको सोनेके समय जब रुईकी गद्दीपर सिरके नीचे तकिया लगाकर रजाई ओढ़कर सोना चाहता हूँ, तब बहुधा उन—भूखे—कंकालमात्र नर-नारियोंके चित्र आँखोंके सामने आ जाते हैं; नींद गायब हो जाती है और मैं बिस्तरपर पड़ा-पड़ा उनके कष्ट निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करता रहता हूँ। अपनी इस विवशताको मैं छिपाये रहता हूँ, पर आज प्रसङ्ग-वश इसकी चर्चा हो गयी!'

—यों कहते-कहते श्रीभाईजीका हृदय भर आया, अन्तर्व्यथा मुखपर झाँकने लगी। धनी-बन्धु श्रीभाईजीके हृदयका वास्तविक परिचय प्राप्तकर आश्चर्यचकित एवं मुग्ध थे। सभीने अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार सेवाकार्यमें सहयोग देनेकी बात श्रीभाईजीसे कही।

सेवादर्श

'धनकी तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश, जो सर्वथा अपरिहार्य है, होगा ही। अतः इस विनाशी वस्तु—धनको विश्वरूपमें विराजित अविनाशी प्रभुकी सेवामें लगा

देनेमें ही इसकी सार्थकता है। भोग मृग-मरीचिकाके सदृश हैं, उन्हें जितना भोगेंगे, तृष्णा उतनी ही बढ़ती रहेगी। अतएव जो कुछ धन-भोग हमें प्राप्त हैं, उनमेंसे आवश्यकता भर अपने ऊपर खर्च करके शेषको अभावग्रस्तों—आर्त्तनारायणोंकी सेवामें लगा ही देना चाहिये।'

परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार अपने प्रवचनोंमें, लेखोंमें तथा व्यक्तिगत परामर्शमें इस बातको बहुधा कहा करते थे। जो श्रीभाईजीके जीवनसे परिचित हैं, वे जानते हैं कि उनकी कथनी और करनीमें कितना साम्य था; वे उतना ही कहते थे, जिसका पालन वे अपने जीवनमें स्वयं करते थे। उनके पास व्यक्तिगत रूपमें कुछ भी नहीं था, पर उन-जैसा दानी मिलना कठिन है। वे दिन-रात खुले हाथों बाँटते ही रहते थे; उनके द्वारसे कभी कोई खाली हाथ नहीं लौटता था। भगवान्‌की कृपासे श्रीभाईजीका भण्डार सदा भरा ही रहता था।

सेवाके नये-नये रूप वे अपनाते रहते थे। सर्दी आरम्भ होते ही उनके यहाँसे ऊनी स्वेटर, चद्दर, कम्बल आदिका वितरण आरम्भ हो जाता था। इतना ही नहीं, पौषकी अँधेरी, ठिठुरती रात्रियोंमें, जब हवा भालेकी नोककी तरह प्रहार करती थी, हड्डीको कँपा देनेवाली उस ठंडमें आर्त्त-सेवक श्रीभाईजी अपने बिछावनसे उठ खड़े होते। जब सारा शहर अन्धकारमें डूबा हुआ होता, शहरके सभी निवासी अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार पक्के भवन या कुटियामें रेशमी रजाई या चिथड़ोंकी बनी गुदड़ी लपेटकर निद्रामें मग्न होते, तब उन परदुःखकातरको सुन पड़ती उन निराश्रितोंकी—वृक्षके नीचे पड़े शीतके भीषण प्रहारसे संत्रस्त भाई-बहनोंकी कराह। श्रीभाईजी विस्मृत कर जाते अपने वृद्ध जर्जर शरीरको एवं सम्पूर्ण शारीरिक कष्टोंको और वे निकल पड़ते जीपमें निराश्रितोंके शीत-निवारणकी व्यवस्था करनेके लिये। कुछ विश्वासपात्र साथी भी साथमें हो

जाते।

जीपके पीछे लगा ट्रेलर ऊनी कम्बलोंसे भरा रहता और नगरको रौंदती हुई उनकी जीप बढ़ जाती उस सड़ककी ओर—उस खण्डहरकी ओर, जहाँ शीतसे ठिठुरते हुए वस्त्र-हीन भाई-बहन सिकुड़े हुए पड़े रहते थे। जीप एक ओर खड़ी कर दी जाती और श्रीभाईजी जीपसे उतरकर उन अभागोंके उस कष्टको अपने हाथोंसे आवृत कर देते—ऊनी कम्बलोंसे उन्हें ढँकते और तुरन्त उस स्थानसे हट जाते। साथके बालक भी कम्बल ले-लेकर उन ठिठुरते हुए भाई-बहनोंको ओढ़ा देते।

जब वहाँ लेटे हुए सभी व्यक्तियोंको कम्बलसे ढक दिया जाता, तब इस आशंकासे कि कोई व्यक्ति उन्हें इन नवीन आच्छादनोंसे वञ्चित न कर दे, टोलीका एक व्यक्ति मन्द स्वरमें पुकारकर उन्हें तनिक-सा सावधान कर देता। इस क्रियासे कोई-कोई व्यक्ति उठकर बैठ भी जाता और अपने ऊपर एक गर्म कम्बल देखकर आश्चर्यचकित हो उसको देनेवाले दानीके दर्शन करनेके लिये उत्कण्ठा भरी दृष्टि इधर-उधर डालता, परन्तु इससे पूर्व ही श्रीभाईजीकी जीप वहाँसे चल पड़ती शहरके दूसरे कोनेकी ओर, जहाँ ऐसे ही अन्य भाई-बहन शीतसे ठिठुरते होते।

इस प्रकार निराश्रित भाई-बहनोंके शीत-निवारणकी इस गुप्त सेवाका क्रम प्रतिवर्ष ही चलता। जहाँ श्रीभाईजी स्वयं न जा पाते, वहाँ वे अपने स्वजनों—विश्वासी सेवकोंके द्वारा यह सेवा सम्पन्न करवाते।

काश! श्रीभाईजीके इस सेवादर्शका किञ्चित अनुसरण हम कर पाते।

******

अप्रतिम सेवा-भावना

'जिसके पास जो कुछ है, वह सब-का-सब 'परार्थ' है, सबका मिला हुआ—सम्मिलित धन है; उसमें सबका भाग है; वह सबका है, उसका नहीं है। जहाँ-जहाँ उसकी आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, उदारता, सदाशयता एवं समादरके साथ उसका उपयोग करना कर्त्तव्य है।'

—अपनी लेखनीसे ये शब्द लिखनेवाले परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार जीवनभर सचेष्ट रहे कि उनका सर्वस्व विश्वरूप प्रभुकी सेवामें लगता रहे। श्रीभाईजीकी सेवा-भावना इतनी प्रबल थी कि वे दूसरेके दु:खको, कष्टको, अभावको देखकर रोनेतक लग जाते थे। गोरखपुर आनेके पश्चात् अर्थात् सन् १९२७ से अर्थकी दृष्टिसे वे सर्वथा नि:स्व रहे—न उनके पास अपना एक पैसा था, न कहीं कुछ जमा था, न उन्होंने कुछ कमाया ही। गीताप्रेस, 'कल्याण' या अन्य किसी भी संस्थासे उनका कोई आर्थिक सम्बन्ध न था। न उन्होंने भेंट-पूजा-उपहारके रूपमें किसीसे भी एक पैसा कभी स्वीकार किया। ऐसी स्थितिमें सेवा-कार्य स्वजनों, मित्रों और श्रद्धालुओंके भगवत्प्रेरित या स्वेच्छाप्रेरित दानसे चलते थे, और चलते थे प्रचुर परिमाणमें। परन्तु कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते थे, जब सेवा-कार्यके लिये प्राप्त राशि समाप्त हो गयी है और सामने उपस्थित भाईके कष्ट-निवारणके लिये उतने रुपयोंकी व्यवस्था करना अनिवार्य होता। ऐसी विवशताकी स्थितिमें श्रीभाईजीका हृदय द्रवित हो जाता था और वे किसी ऋण लेकर, इतना ही नहीं अपनी पत्नीके गहने बेचकर भी उस आर्त भाईके आँसू पोंछते थे। विस्तार-भयसे नीचे श्रीभाईजीके केवल एक पत्रका कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है; पाठक स्वयं अनुभव करें कि उनका हृदय कितना संवेदनशील था!

श्रीहरि

गोरखपुर

ज्येष्ठ बदी २, संवत् २०१०

प्रिय .... जी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका २७-५-५३ का पत्र मिला। एक कार्ड जयपुरसे मिला था। ....की पत्नीको ...... रुपये मासिक देकर रसीद लेते रहियेगा।

श्री ..... बाबत लिखा, सो ठीक है। मुझे स्वयं उनकी बड़ी चिन्ता है कि उनकी बीमारीकी स्थिति सुनकर मैं कुछ भी कर नहीं सकता। जो कुछ व्यवस्था हो सकी, उनको दे दिया तथा भविष्यमें (छः महीनेके लिये सोचकर) सौ रुपया महीना भेजनेकी बात भी उनसे कह दी है। पर आप जानते हैं, मैं तो सर्वथा अकिञ्चन हूँ। मेरे पास पैसा नहीं। दुनियाँकी आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर हो गयी है कि पहले लोग अपनी इच्छासे अच्छे काममें पैसा लगानेको कहते थे, अब वह तो सर्वथा बन्द हो गया—कहनेपर भी नहीं होता। ××× श्री ... को कह तो दिया, पर मेरे पास एक पैसा भी नहीं। गीताप्रेसकी रोकड़से उचंतमें (अर्थात् उधार) लेकर उनको दे दिये, पर अभीतक वे वापस नहीं किये जा सके। पिछले दिनों एक सज्जनको ... रुपये देने थे—सहायतामें। कहीं प्रबन्ध नहीं हुआ—सावित्रीकी माँ (धर्मपत्नी)का एक गहना बेचकर दिये। यह स्थिति है। कैसे देता-लेता हूँ, इसीसे आप अनुमान कर सकते हैं। किससे कहूँ? लाभ भी क्या है? इसीसे श्री .... को पत्र नहीं दिया। उनके दो पत्र आ गये—एक पहले आया था, दूसरा आज आया। आप उन्हें मेरे नाम लिखकर एक सौ रुपया दे दीजियेगा।

उन्होंने ... रू०अंदाज ऋणके लिखे हैं, मासिक खर्च भी

१५० रु० अंदाज बतलाया है और ठण्डी जगह जानेकी बात लिखी है। बात तीनों ही ठीक हैं; पर मैं उन्हें क्या लिखूँ? मेरे पास कोई व्यवस्था नहीं है। एक-सौ रुपये महीना तो मैं छः महीनेतक किसी तरह भेजता रहूँ, पर इससे अधिक कुछ भी करनेकी मेरी परिस्थिति नहीं है। उनके ऋणके रुपये शीघ्र मैं भेज दूँ—ऐसी बड़ी इच्छा है, पर जबतक व्यवस्था न हो, तबतक मैं क्या लिखूँ?

उनके बाहर जानेके बाबत भी मैं क्या लिखूँ? उनके शरीरपर बुरा असर न पड़े, इसलिये उनको न लिखकर ये समाचार मैंने आपको लिखे हैं। आप इनका सारांश स्पष्ट उन्हें बता दीजिये। मैं हृदयसे उनकी सेवा करना चाहता हूँ, पर कर सकूँगा तभी, जब भगवान् चाहेंगे। उनको मैं अभी पत्र नहीं लिख रहा हूँ।

आपका भाई,

हनुमान

पूज्य गुरुजनके आदेशका पालन

बात पुरानी है। एक प्रसिद्ध विद्वान्ने दर्शन-विषयपर हिन्दीमें एक अच्छा ग्रन्थ प्रकाशित कराया था। उन्होंने उसकी एक प्रति परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको भेंटस्वरूप भेजते हुए पत्रमें लिखा—'इस ग्रन्थकी अच्छी-सी समालोचना आप 'कल्याण'में अवश्य प्रकाशित कर दें।' श्रीभाईजी उन दिनों 'कल्याण'के विशेषांकके कार्यमें व्यस्त थे एवं उनका स्वास्थ्य भी कुछ शिथिल था। अतएव उस पत्रका उत्तर सामान्यरूपमें सम्पादकीय विभागके एक सदस्यने लिख दिया था—'कल्याण'में आपके ग्रन्थकी समालोचना प्रकाशित नहीं हो पायेगी; कृपया विवशताके लिए क्षमा करें। इस उत्तरको प्राप्त कर विद्वान्को बड़ा असंतोष हुआ, पर उन्होंने अपना

असंतोष मनमें ही रखा, पत्ररूपमें उसे व्यक्त नहीं किया।

एक-दो मास बाद किसी कामसे वे (पण्डितजी महाराज) गोरखपुर पधारे और श्रीभाईजीने उनका बहुत ही आदरके साथ स्वागत किया, चरण छूकर प्रणाम किया और अपने सहज स्वभावसे पूछा—'महाराजजी! कोई सेवा हो तो बताइये!' श्रीभाईजीके मुखसे ये शब्द सुनते ही विद्वान् महोदय मुखर हुए। ग्रन्थकी समालोचना प्रकाशित न होनेके कारण जो असंतोष उनके हृदयमें था, उसे व्यक्त करनेका उन्हें अच्छा अवसर मिल गया। 'कामात् क्रोधोऽभिजायते—कामना प्रतिहत होकर क्रोध बनती है। विद्वान् महोदयने कहा—'भाईजी! आप पूछ रहे हैं कि 'कोई सेवा हो तो बताइये।' दो मास पूर्व एक सेवा बतायी थी—दर्शन विषयपर लिखा गया अपना ग्रन्थ आपको भेजा था और आग्रहपूर्वक लिखा था कि उसकी अच्छी समालोचना 'कल्याण'में प्रकाशित कर दीजियेगा; परन्तु आपने उस सेवाकी ओर तो ध्यान ही नहीं दिया और मिलने पर सेवा बतानेकी बात कह रहे हैं। क्या 'कल्याण'जैसे आध्यात्मिक पत्रके सम्पादकका यही स्वरूप होना चाहिये।''

श्रीभाईजीने विद्वान् महोदयके रोषभरे शब्द शान्त भावसे सुने और दोनों हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हुए वे बोले—'महाराजजी! आपका कहना सत्य है; किन्तु क्या करूँ, आपका ग्रन्थ मिला, उन दिनों मैं विशेषांकके कार्यमें अत्यधिक व्यस्त था; साथ ही शरीर भी रुग्ण था। अतएव उसका उत्तर मैं स्वयं नहीं लिखा पाया। पता नहीं, मेरे साथियोंने आपको क्या उत्तर लिखा। किन्तु महाराजजी! 'कल्याण' के आरम्भसे ही हमलोगोंकी यह दृढ़ नीति रही है कि किसी भी ग्रन्थकी समालोचना उसमें प्रकाशित नहीं की जाय। इस नीतिके निर्धारणकी भी महत्वपूर्ण घटना है। 'राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीसे मेरा प्रथम परिचय सन् १९१५ में हुआ। महात्माजी सन् १९१५ में जब

दक्षिण अफ्रीकासे लौटनेपर रंगून होकर कलकत्ता पधारे, तब वहाँकी 'हिन्दू-सभा' संस्थाकी ओरसे मन्त्रीके रूपमें मैंने उनका स्वागत किया था तथा अल्फ्रेड थियेटरमें उन्हें 'अभिनन्दन-पत्र' भेंट किया था। पीछे क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें सक्रिय भाग लेनेके कारण जब मैं बंगालसे निष्कासित कर दिया गया, तब सन् १९१८ से १९२७ ई० तक बम्बईमें रहा। उस अवधिमें महात्माजीके साथ अत्यन्त घनिष्टता हो गयी। वे जब बम्बई पधारते, तब स्वर्गीय भाई जमनालालजी बजाजके साथ व्यावसायिक कार्य करनेके कारण उनकी ओरसे महात्माजीके सारे आतिथ्यका भार मेरे ही जिम्मे रहता था। महात्माजी बम्बईमें मेरे घरपर भी कई बार पधारे थे। उनका मेरे साथ सम्बन्ध प्रायः वैसा ही कौटुम्बिक था, जैसा उनका अपने पुत्र भाई देवदासके साथ था। अतएव 'कल्याण'के प्रकाशनके साथ उसके लिये महात्माजीका आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु श्रीजमनालालजी बजाजको साथ लेकर मैं उनके पास गया था। 'कल्याण'के सम्बन्धमें निर्धारित नीतियोंको सुनकर महात्माजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'दो नियमोंका पालन दृढ़तासे करना—'बाहरी कोई विज्ञापन नहीं देना तथा पुस्तकोंकी समालोचना मत छापना।' विज्ञापन न छापनेके सम्बन्धमें उन्होंने हेतु बताया कि 'तुम अपनी जानमें पहले-पहले यह देखकर विज्ञापन लोगे कि वह किसी ऐसी चीजका न हो, जो भद्दी हो और जिसमें जनताको धोखा देकर ठगनेकी बात हो। पर जब तुम्हारे विरोध करनेपर भी साथी लोग कहेंगे—देखिये, इतना पैसा आता है, क्यों न यह विज्ञापन स्वीकार कर लिया जाय? बस, पैसेका प्रलोभन आया कि जनताके लाभ-हानिकी बात एक ओर रह जायगी। अतएव आरम्भसे ही यह नियम बना लो कि 'बाहरी विज्ञापन स्वीकार करना ही नहीं है।' समालोचनाके सम्बन्धमें यह बात है—'जो लोग समालोचनाके लिये तुम्हारे पास अपनी पुस्तक भेजेंगे,

उनमें-से अधिकांश इसलिये भेजेंगे कि तुम्हारे पत्रमें उनके ग्रन्थकी प्रशंसा निकले। यथार्थ समालोचना करानेके लिये अपनी पुस्तक भेजनेवाले बिरले ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें पुस्तकें चाहे जैसी हों, या तो उनकी झूठी प्रशंसा करनी होगी; या उन साहित्यकारों, लेखकोंसे झगड़ा मोल लेना पड़ेगा। इसलिये समालोचना मत छापना।'' मैंने कहा—'बापू! आशीर्वाद चाहिये; भगवान् शक्ति देंगे। इन दोनों नियमोंका दृढ़ताके साथ पालन होगा।' बापूने 'कल्याण'की सफलताके लिये हृदयसे आशीर्वाद दिया। तबसे आजतक 'कल्याण'की वही नीति चली आ रही है। गाँधीजीने जो आशंका व्यक्ति की थी, आगे चलकर वह सामने आ गयी। ज्यों-ज्यों 'कल्याण'का प्रचार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों विज्ञापनवालोंके आग्रह आने लगे। जब इसके एक लाख ग्राहक हो गये, तब तो लोग खूब अधिक पैसा देकर विज्ञापन छपवानेको तैयार हो गये। समालोचनाके लिये भी बहुत-सी पुस्तकें आयीं, बहुत तरहसे दबाव डाले गये, पर भगवान् रक्षा करते चले आ रहे हैं।

'महाराजजी! आपकी सेवा न करनेका अपराध मेरे द्वारा अवश्य हुआ है, पर किन परिस्थितियोंमें, यह आपके सामने स्पष्ट है। आप गुरुजन अपराधके लिये जो दण्ड देंगे, वह शिरोधार्य है। बस, मुझे इतना ही संतोष है कि आजतक 'कल्याण'की रीति-नीतिका निर्वाह मेरे द्वारा भली-भाँति हो रहा है, इससे मेरे मनमें प्रसन्नता भी है। गुरुजनों द्वारा प्रदत्त आदेशका पालन करनेके लिये मैं सदा सचेष्ट रहा हूँ और होश रहते उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता आने देनेका विचार भी नहीं है।'

'कल्याण'की रीति-नीतियोंका परिचय प्राप्तकर विद्वान् महोदयका रोष शान्त हो गया। वे श्रीभाईजीको आशीर्वाद देते हुए बोले—'भाईजी! आपने पत्रकारिता जगत्के सामने एक आदर्श उपस्थित

किया है। मुझे यह जानकर आन्तरिक प्रसन्नता हुई कि आप गुरुजनोंके आदेशका इतनी दृढ़ताके साथ पालन करते हैं।'

विद्वान् महोदयके चरणोंमें अपना मस्तक रखते हुए श्रीभाईजीने कहा—'आप-जैसे गुरुजनोंके श्रीचरणोंके आशीर्वादका ही यह फल है। बस, जीवनपर्यन्त आशीर्वाद बना रहे।' विद्वान् महोदय भाव-विभोर थे।

'कल्याण' से साभार

****

भिक्षुकको रोटी आदरपूर्वक देनी चाहिये

उन दिनों मैं गीताप्रेसकी सेवामें गया ही था। श्रीभाईजी जालानोंके बगीचेकी कोठीमें सकुटुम्ब रहते थे। मैं उनके साथ ही रहता, खाता-पीता था। कोठीमें बाहरकी तरफ बरामदा और उसके दोनों तरफ कमरे बने थे। एकमें श्रीभाईजी बैठकर लिखा-पढ़ा करते थे, दूसरेमें उनके कर्मचारी बैठते थे।

एक दिन एक गरीब आदमीने बरामदेके पास आकर खानेके लिये रोटी माँगी। श्रीभाईजीने एक आदमीको घरमेंसे रोटी लाकर देनेको कहा। वह जाकर रोटी ले आया और दरवाजेके पास खड़ा रहकर रोटी गरीब आदमीकी तरफ फर्शपर फेंक दी। गरीबने रोटी ले ली, परन्तु श्रीभाईजीको बहुत दु:ख हुआ। उन्होंने रोटी लानेवालेको पास बुलाकर कहा—'रोटी इस तरह नहीं फेंकनी चाहिये। इससे गरीबको दु:ख होता है, यद्यपि वह कुछ बोलता नहीं। श्रीदरिद्रनारायण और अन्न-देवताका अपमान होता है। रोटी भिक्षुकके हाथमें आहिस्ता, आदरपूर्वक देनी चाहिये।'

विलायती वस्त्रोंकी होली

यह बात तबकी है जब श्रीभाईजी गोरखनाथके मन्दिरके

एक बगीचेमें रहते थे। मैं भी सकुटुम्ब उनके सामनेके ही एक बगीचेमें रहता था। श्रीभाईजी कोई विशेष काम होनेसे ही गीताप्रेस जाते थे। मैं तो नित्य ही जाता था।

एक दिन हम दोनों प्रेस गये थे। संध्याको लौटकर जब बगीचेमें आये तो मालूम हुआ कि भाईजीका कोई सम्बन्धी या घनिष्ट मित्र उनकी एकमात्र बालिका सावित्रीबाईके लिये पहननेके कपड़े दे गया है। वे सब कपड़े विलायती अर्थात विदेशमें निर्मित थे।

भाईजीने वे सब वस्त्र निकलवाकर बँगलेके सामने आँगनमें रख दिये और जलाकर उनकी होली कर दी। वे तो वर्षों पहलेसे शुद्ध खद्दर पहनते थे। घरमें भी भाभीजी (उनकी धर्मपत्नी) और भुआजी (उनकी माताजी) खद्दर पहनती थीं। वे गाँधीजीके परम भक्त थे। घरवालोंने शिष्टता या मोहवश पहननेके कपड़े रख लिये थे। भाईजीने उसका प्रायश्चित कर दिया।

इस घटनासे एक बार तो सबका मन शोकाकुल हो गया। कुछ लोगोंने अपशकुन भी समझा, परन्तु पीछे सब और भी दृढ़तासे स्वदेशी व्रतका पालन करने लगे। यह बात कोई ४३-४४ वर्ष पहले की है जो किसी व्रतको लेकर उसे पूर्णतासे निबाहनेकी शिक्षा देती है।

परम स्वजन

सन् १९५७ में मेरी माताजीका कलकत्तेमें स्वर्गवास हो गया। श्रीभाईजी सकुटुम्ब तब रतनगढ़में थे। मैंने उनको लिखा— 'आप कलकत्ते आनेका कष्ट नहीं कीजियेगा और वहींपर आपके जैसा जँचे उतना अन्नादि वितरण, ब्राह्मण-भोजन, दक्षिणा और कुटुम्बियों आदिको खिलाने-पिलानेका काम करवा दीजियेगा।' इसके साथ ही मैंने कुछ रुपये भेज दिये।

वापसी डाकसे उनका उत्तर आया कि तुम्हारी जैसी हैसियतवाले तुम्हारे ही एक कुटुम्बीकी माताका खर्च हुआ है उसीके अनुसार मामीजीका (मेरी माताजीका) भी होना ठीक रहेगा। तुम्हारे रुपये आये थे वे कुछ कम पड़ते हैं। वे मेरी भी 'माँ' ही थीं, सो कुछ अधिक खर्च होगा वह मेरे पाससे लग जायगा। (श्रीभाईजी मेरी सगी बुआजीके सुपुत्र थे।) मैं यह समाचार पाकर बहुत लज्जित और परम प्रसन्न भी हुआ। लज्जा इसलिये कि मैंने बिना पूरी जानकारी किये ही रुपये भेज दिये जो कम पड़े और प्रसन्न इसलिये हुआ कि आज भी हमारी इस दुनियामें ऐसे 'अपने' स्वजन सज्जन भी हैं।

मैंने यथेष्ट रुपये भेज दिये। फिर उनका समाचार आया कि कुछ रुपये बच गये हैं। मैंने लिखा कि वे आपकी मामीकी तरफसे आप ही रख लें। हमारे इस प्रकार देने-लेनेका रिवाज है। परन्तु उन्होंने एक पैसा भी नहीं रखा। सब रुपये लौटा दिये। धन्य हैं ऐसे जन-हितकारी जन।

श्रीरामेश्वरप्रसाद बाजोरिया

****

पू० सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दका का प्रिय पद

उड़ जायेगा रे हंस अकेला, दिन दोयका दर्शन-मेला॥
राजा भी जायगा, जोगी भी जायगा, गुरु भी जायगा चेला॥
माता-पिता भाई-बन्धु भी जायेंगे, और रुपयोंका थैला॥
तन भी जायगा, मन भी जायगा, तू क्यों भया है गैला॥
तू भी जायगा, तेरा भी जायगा, यह सब मायाका खेला॥
कोड़ी रे कोड़ी माया जोड़ी, संग चलेगा न अधेला॥
साथी रे साथी तेरे पार उतर गये, तू क्यों रहा अकेला॥
राम-नाम निष्काम रटो, नर, बीती जात है बेला॥